कविता-विशेषांक
मई १९७८
मूल्य : १० रुपये
सम्पादक :
ललित क्मार शर्मा 'ललित'
सहयोग :
राजीव सक्सेना
बलदेव वंशी

विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक

जनवादी कवि :

श्री नागार्जुन

समकालीन साहित्य-काव्य के

अग्रणी समीक्षक :

श्री हृषीकेश

एवं

समकालीन कविता के अप्रतिम हस्ताक्षर :

श्री प्रताप विद्यालंकार

को

सादर समर्पित

-- ललित
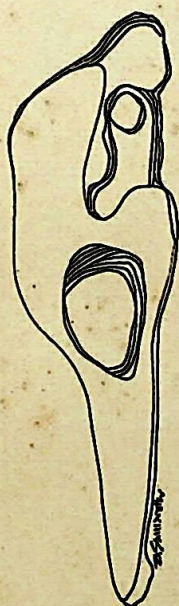
समीचर

अद्यतन सृजन का निष्पक्ष विवेचक

कविता विशेषांक
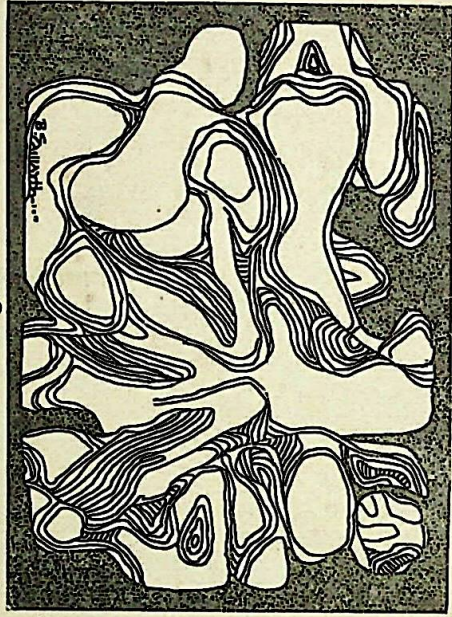
तेवर—

१. 'सनीचर' पूँजीवादी प्रतिक्रियावादी एवं अवसरवादी लेखकों का मंच नहीं है।

२. 'सनीचर' साहित्यिक दलबन्दी एवं जातिवाद को फूटी आँखों नहीं देखता।

३. 'सनीचर' नवलेखन का पक्ष पर है; किन्तु नवलेखन की गलाजत को वर्दाश्त नहीं करता।

४. 'सनीचर' पूँजीवादी ढाँचे की सुरक्षा में किसी भी कलात्मक उपलब्धि को स्वीकार नहीं करता।

५. 'सनीचर' मुखौटा धारियों का दुश्मन है। यह प्रगतिशील लेखकों का सहयोगी प्रकाशन है, पारिश्रमिक नहीं देता।

६. 'सनीचर' साहित्य की जमीन पर अधकचरा फैलाने वालों को नहीं छोड़ता, चाहे उसका कर्ता कोई भी हो।

७ 'सनीचर' हिन्दी संस्थाओं एवं अकादमियों में बैठे अधिकारियों पर नजर रखता है एवं उनके पक्षपात पूर्ण रवैये की खुलकर निन्दा करता है।

७½. 'सनीचर' उन महिला लेखिकाओं को भी सावधान करता है, जिन्होंने नाजुक अल्ट्रामाडर्न नायिकाओं को ही अपनी रचनाओं में स्थान देकर रंगीन पत्रिकाओं के माध्यम से युवा-पाठकों का मन खराब किया है और अधेड़ उम्र में भी अपनी सोलवें साल की तस्वीरें छपवाती रही हैं।

२२वाँ वर्ष
संस्थापन :
जनवरी १९५७ ई०

सनीचर १०

[अद्यतन सृजन का निष्पक्ष विवेचक]

कविता विशेषांक

सम्पादक :

ललित कुमार शर्मा 'ललित'

सहयोग :

राजीव सक्सेना

बलदेव बंशी

●

चित्रांकन :

भाऊ समर्थ

●

मुद्रक :

इलाहाबाद प्रेस

३७०, रानीमण्डी,

इलाहाबाद

●

ब्लॉक निर्माण :

जौहरी ब्लॉक मेकर्स

गोदौलिया, वाराणसी

●

सम्पर्क सूत्र :

जी. टी. रोड, औराई,

वाराणसी

मई, १९७८ ई०

मूल्य : १० रुपये

वार्षिक : २० रुपये

सनीचर–१०

कविता विशेषांक

तासीर

पत्र-मत

● 'सनीचर' -९ की प्रति आप की कृपा से मिल गई है। सचमुच ही आप ने मेरे प्रति वड़ी आत्मीयता दिखाई है। आपने मेरी वहुत सहायता भी की है। पत्रिका हिन्दी काव्य-धारा के अद्यतन स्वरूप को परिचायिका है। इस दृष्टि से निश्चय ही मेरे लिये वहुमूल्य भी है। 'सनीचर' जैसी एक साहित्यिक लघुपत्रिका को विना वेंचे, विनाकिसी को ग्राहक वनाये निकालते रहना कितना महान् कार्य है !···आपने मुझे भी ग्राहक नहीं वनाया।···

पी० के० वेणु [शोध छात्र]
कालीकट विश्वविद्यालय,
केरल

[२१ साल तक हर लेखक-सम्पादक को डाक-व्यय का भार उठाकर 'सनीचर' भेजते रहे। किसी ने अपनी तरफ से वार्षिक शुल्क नहीं भेजा। विज्ञापनों से जव खर्च नहीं निकलता था, तव सम्पादक को उसका भार उठाना पड़ता था। अव वह भी स्थिति नहीं है, अस्वस्थता के कारण सम्पादक को कलकत्ता छोड़ना पडा। 'सनीचर'-१० से यानी इस विशेषांक से ग्राहक वनाये जायेंगे।—सं०]

● 'सनीचर' के क्या हाल हैं ? वैसे वह आजकल सिंह राशि में विचरण कर रहा है। सुनते हैं सिंह का सनीचर वड़ा भयंकर होता है ! सम्भाषणों के वीच आप अक्सर उपस्थित रहते हैं। आप की वातें आप के विचार हमें अक्सर सहज साधना किन्तु दृढ़ निश्चय के लिए प्रेरित करते रहते हैं। 'कविता' कव तक ?

दद्दा, दो खवरें और —

सुना जाता है, ध० वी० भारती, म० श्याम जोशी और रघुवीर सहाय, तीनों ने मॉरिशस के राजदूत पद के लिए जनता सरकार के मंत्रियों की भरपूर चाटुकारिता की। लेकिन कुछ न हो सका। नियुक्ति किसी ऐसे व्यक्ति की हो गई जो चाटुकार नहीं था। वैसे राजदूत पद से शायद चाटुकारिता अलग नहीं है। आप का क्या ख्याल है ?

दूसरी खवर—डॉ० महीप सिंह 'अखिल भारतीय लेखक संघ' वनाकर उसके महासचिव भी वन गये हैं। मटियानी और महासचिव के वीच पत्राचार 'जनपक्ष' के नये अंक में छपे हैं। पढ़ने पर लगता है महासचिव को मटियानी के विचार वजनी लग रहे हैं और वे अपने पैर भारी महसूस करने लगे हैं।

चन्द्र प्रकाश पाण्डेय, कानपुर,

[धन्यवाद भाई ! आपने ठीक ही लिखा है। शनिवार को जन्म हुआ था और अभी शनि की २१ साल की महादशा में हूं। राशि भी सिंह हैं !

मैंने भी सुना है कि जब शनि सिंह राशि में होता है, तब वह अमेरिकी एवं रूसी भारतीय दलालों की परवाह जरा कम करता है; लेकिन देशी पूंजीपतियों के साहित्यिक दलालों पर जबर्दस्त सवारी कसता है। डॉ० नामवर सिंह 'शनि' को शनि नहीं कहते। वे शनि को मर्ज कहते हैं। यह 'मर्ज़' उनकी बौद्धिकता को सन् ५८ से लगा हुआ है। इसीलिये उनका साहित्यिक कार्य रचनात्मक न होकर गोरख धन्धे वाला होता रहा।...

आप ने अच्छी खबर दी! राजदूत पद मात्र की इच्छा चाटुकारिता की अन्तिम सीढ़ी है। प्रशस्ति लिखने और उसके बयान करने की कला में जो माहिर होता है, वही सर्वोत्तम राजदूत होता है।...इन तीनों सज्जनों को आगामी कालों में [दशकों] में 'राष्ट्रपति' होना चाहिये। देश के ऐसे ही लोग तो 'भाग्य विधाता, होते हैं। वे अभी भी 'भाग्य विधाता' हैं। जिस अभागे की एक रचना छप जाती है, वह कम्बख्त कुछ नहीं तो 'कवि सम्मेलनी' कवि तो हो ही जाता है। हम सब तो भाई, आम आदमी हैं, प्रजा! डॉ० महीप सिंह तो दिल्ली में, सुना है कि 'चाटुकारिता की अलख' जगाये हुए हैं।...पत्रिका नियमित निकालने की ललक रखने वाले पत्रकारों को इनसे दीक्षित होना चाहिये—

लेखक-संघ एवं लेखक-सम्मेलनों में जो कुछ होता है, मटियानी जरा ज्यादा परिचित हैं।

● 'सनीचर'-६ मिला। प्रस्तुत अंक के निबन्ध संतुलित हैं। टिप्पणियाँ 'सनीचर' की परम्परा के मुताबिक। लेकिन कविताएँ कमजोर हैं। आप की रपट काफी पसन्द आई। इतने बेलाग ढंग से रपट तैयार करना आपके ही वश की बात थी। 'कविता विशेषांक की विज्ञप्ति देखने मे पता चलता है कि अंक जोरदार होगा।

बिजेन्द्र अनिल, भोजपुर (आरा) बिहार

['निबन्ध' सभी के संतुलित होते हैं। बस, डॉ० रमेश कुन्तल मेघ उसे 'अनिबन्ध' कर देते हैं। कविता विशेषांक जोरदार क्यों नहीं होगा, अपनी कचूमर जो निकल रही है।--सं०]

● 'सनीचर' का दीपावली ७७ अंक मिला। मेरे [मधुमती] सम्पादन पर जो टिप्पणी की वह संक्षिप्त होते हुए भी अर्थपूर्ण है। कवितांक कब तक?—

—रामदेव आचार्य, बीकानेर

—'सनीचर' का दीपावली ७७ [अंक : ६] मिला। 'सनीचरीय' और 'चतुरंग चर्चा' में हम मित्रों को मजा आ गया। आप की बेबाकी जाहिर है कि कुछ आपके तथाकथित प्रगतिशील मित्रों को खासी चोट पहुँचायेगी हो। वह चाहे भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की कॉंग्रेस के अंध समर्थन वाली ग़लत राजनैतिक भूमिकाएँ हों अथवा जनता सरकार की असफलताएँ। इस देश के बुद्धि-

जीवियों की नपुंसकता एवं अवसवादिता हो अथवा विशेष रूप से साहित्यकार-पत्रकार जगत में मीडियाकरों की कलावाजी, निश्चय ही उस पर चोट करके और इनको उघाड़कर रख देने में 'सनीचर' ने अपनी परम्परा क़ायम रखी है।

मधुकर गंगाधर, किशोर वासवानी की कविताएँ तथा 'मधुर' के गीत अच्छे लगे। प्रताप विद्यालंकार को रूसी कवि इल्या सेल्विन्स्की की कविता 'प्यार' का सहज पद्यानुवाद करने के लिये बधाई दें। उचित समझें तो 'जन-पक्ष' के दूसरे अंक पर 'सनीचर' के दूसरे अंक में अपनी तेज़ कलम की कृपा करने में कोताही न कीजिए।—

—अम्बिकासिंह वर्मा, कानपुर

वाराणसी के साम्प्रदायिक दंगे के कारण कर्फ्यू होने से अक्टूबर-नवम्बर ७७ में प्रेस तक पहुँच नहीं पाया था। 'सनीचर-९' फिर भी कुछ काम का हुआ, यह संयोग ही है।···'जनपक्ष' का दूसरा अंक भी मिला था। अक्षरशः पढ़ा है उसे। हम लोग पूँजीहीन हैं, वर्ना 'जनपक्ष' को साप्ताहिक निकलना चाहिये—सं०]

● आदरणीय दादा !

कविता लिखना और उसे कविता की भीड़ से अलग रखना कितना कठिन है, इसका अनुमान आपके आदेश का पालन करने के क्रम में मुझे एक बार फिर हुआ। —

—शलभ श्रीराम सिंह, हवड़ा

[अजी वाह ! वाह तुम ! तुम धन्य !···इतनी कठिन तपस्या से 'ताड़ी क्षेत्र की चार कविताएँ' जो चू पड़ीं, उसके लिये तो तुम्हें ज्यादा कुछ नहीं कहा जा सकता। लेकिन एक ही कविता को थोड़े हेर-फेर के साथ 'लहर' एवं 'सनीचर' को एक ही साथ भेजने के गैर जिम्मेदाराना सलूक को नज़रन्दाज नहीं किया जा सकता ! तुम्हारे आदमी की, तुम्हारे कवि की इससे पहचान अयाँ हो जाती है। हम तुम्हें कभी भी क्षमा नहीं कर सकते। हम इसे जघन्य अपराध मानते हैं। 'लहर' का दि० जनवरी अंक ता० २०-४-७८ को इलाहाबाद में देखकर आश्चर्यचकित हो जाना पड़ा—सं०]

● 'सनीचर' का दीपावली अंक अभी यानी तीन घण्टे पूर्व मिला है। 'सनीचर' तो फिर सनीचर जिस किसी को भी अपनी गिरफ्त में लेता है, जल्दी छोड़ता नहीं; अस्तु पूरा पढ़ गई। 'सनीचरीय' में एक तुलना लाजवाब है—जैसे फूटा हुआ मुर्गी का अन्डा। 'पत्रकारिता समारोह' पर आप की रपट उल्लेखनीय है।···

—मालती शर्मा, पूना

● ······दुर्भाग्य की बात कि आप से कलकत्ते में निर्धारित तारीख और समय पर भेंट न हो सकी।···आपके कलकत्ते से चले जाने के कारण मेरी वहुत बड़ी क्षति हुई है। लेखन के काम में आपसे बड़ा प्रोत्साहन मिलता था। सनीचर–९ भेज दीजिये।····

—निर्भय मल्लिक, बर्दवान
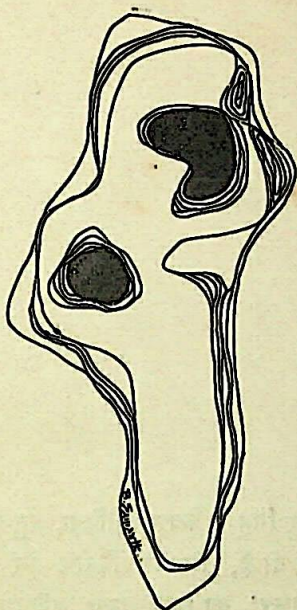
१. सनीचरीय

[समकालीन काव्यधारा की पहचान]

● ललित

२. कविता, सुरंग के पार

● राजीव सक्सेना

३. समकालीन कविता : हिंसा का इतिहास
ऐतिहासिक हिंसा का पर्दाफाश

● बलदेव वंशी

सनीचरीय

'कविता' एवं 'कहानी' पर डॉ० नामवर सिंह ने केवल बौद्धिक, अनुभवहीन किताबी कुछ ऐसी व्याख्याएँ समय-समय पर दी हैं, जिनका विरोध हम सदैव करते रहे हैं। डॉ० नामवर सिंह एवं 'सनीचर' का एक लम्बा इतिहास है। जो स्पष्ट बात, अनर्गल विचारों का खण्डन हम सन् ५७ से ६१ तक करते रहे, डॉ० नामवर सिंह उस पर मस्त होते रहे, क्योंकि प्रतिष्ठानों के पूँजीवादी साहित्य एवं विचारों के खिलाफ़ स्वयं सामने आने से डॉक्टर साहब न जाने क्यों घबराते से रहे। अपनी उसी मस्ती के तहत डॉक्टर साहब ने 'सनीचर' के कन्धों पर बन्दूक रख दागने का कार्य करना चाहा। हमने उनकी इच्छाओं की पूर्ति नहीं की। बल्कि डॉक्टर साहब की दूषित इच्छाएँ देखकर हमने उसकी पहचान शुरू कर दी। कुछ अंकों तक (सनीचर) हमने डॉक्टर साहब की हरकतों का पर्दाफाश किया। बाद में 'सनीचर' के ताजे अंक पढ़ने के साथ-साथ डॉक्टर साहब एक कार्ड द्वारा पूछते रहे—'इस बार किसका पत्ता काट रहे हो तात !'

कविता–कहानी की तीखी समीक्षा एवं किसी के मतों का खण्डन करने का डॉक्टर साहब ने नाम धरा था 'पत्ता काटना'। उनकी इस बेहूदगी पर हमें बहुत तरस एवं क्षोभ आता रहा कि इस आलोचक के संस्कार में कहीं कोई गड़बड़ी जरूर है। जीनियस, प्रगतिशील होते हुए भी यह निरा बौड़म है। ठाकुरों ने अपनी मनमानी के जो नुस्खे जमींदारी में इस्तेमाल किये थे, साहित्य की जमीन पर ठाकुर श्री नामवर सिंह का भी वही ढंग रहा है। ···एक दिन डॉ० महादेव साहा से मैंने नामवर सिंह की बातों का उल्लेख किया था।···फिर क्या था डॉ०

साहा अपनी बिगड़ने एवं झाड़ने वाली मिर्जापुरी जबान का प्रयोग करते रहे और हम में गलते हुए लोहे को हाथों में उठा कर चलने का साहस भरते रहे। पार्टी के लिये अपना जीवन, सुख, अपनी प्रबुद्धता त्यागने वाले डॉ० साहा ने 'सनीचर' को पाँच वर्ष तक बहुमूल्य परामर्श दिया था। स्व० राहुलजी, नागार्जुनजी जाने-माने सभी दिग्गज 'सनीचर' के आंतरिक परामर्श-समिति में थे। श्री हृषीकेश के सुलझे विचारों, सुलझी बौद्धिकता का साहचर्य 'सनीचर' को प्राप्त था ही। डॉ० नामवर सिंह इस बात को जानते थे। यह भी जानते थे कि 'सनीचर' जिसको घेरता एवं घसीटता है, वह अधमरा हो जाता है। 'ज्ञानोदय' में धारा-वाहिक रूप में छपे ग्यारह लेखकों का सहयोगी उपन्यास 'ग्यारह सपनों का देश' की समीक्षा जब 'सनीचर' में प्रकाशित हुई तो उसकी चर्चा ही नहीं, बहुत बड़ी बात घटित हुई। डॉक्टर साहब अन्तर से मस्त थे। वे तीन घण्टे तक 'ज्ञानोदय' के तत्कालीन सम्पादक शरद देवड़ा एवं स्व० राजकमल चौधरी के साथ हमें घेरे रहे और जानने के लिये उतावले थे कि समीक्षा का लेखक कौन है!···

मीडियाकर, हर आकर्षण पर बिकने वाले कमलेश्वर, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव की संगत में डॉ० नामवर लौंडे से कुछ अधिक का हमें कभी नहीं दिखाई दिये।···'ज्ञानोदय' सम्पादक शरद देवड़ा जैसे लिल्लपंगु के बीच चलती कार में जो व्यक्ति समीक्षक का नाम जानना चाहे, वह और क्या हो सकता है! नामवर जी ने साहित्य को चों-चों का मुरब्बा समझा था और उसकी गंभीरता को

गुल्ली-डण्डे का खेल !···हम आचार्यों, विद्वानों की संगतों के कायल रहे हैं। हमें या साहित्य को उनसे जो कुछ भी मिला है, उससे समृद्धि ही आई है। लेकिन यदि कोई विद्वान है और साथ ही साथ तिकड़मबाज़ भी है, तो हम उसे दोनों मोर्चों पर याद करते रहे हैं। जैसे कमलेश्वर को हमने कहानीकार के रूप में अच्छा कहानीकार माना और उसके तिकड़मों में समायी बदबू को 'लू' की हवा दी है। उसके पूँजीवादी प्रवृत्तियों को 'आम आदमी' के नारों के संदर्भ में उजागर किया है। 'आम आदमी' को वह एक खास मूड में महसूसता भर है अपने व्यवहार में वह आम आदमी की अपने ऊपर छाया भी नही पड़ने देता। यह दुहरी भूमिका पूँजीवादी संस्कारों की देन से व्यक्ति में पैदा होती है। ऐसी भूमिकाओं के जाने अनजाने निशान हर साहित्यकार के चेहरे पर खुदा हुआ है। अपवाद कुल पचास लेखक-पत्रकार से ज्यादा नहीं हैं।···क्योंकि पूँजीवादी देश की पूँजीवादी व्यवस्था के अन्दर हम जी रहे हैं।' 'आम आदमी' को महसूसना भी मध्यम निम्न वर्ग के बुद्धिजीवियों का अपने आप में बड़ी बात किसी समय रही है। बिचली पीढ़ी महसूस करती रही है नयी पीढ़ी उसे कुछ अधिक आगे बढ़कर अपना रही है। आने वाली पीढ़ी उसे न केवल महसूसेगी, बल्कि आम आदमी को अपने व्यवहार में आत्मसात् करेगी। यह जमीन अभी दलदली है। आम आदमी के लिये नारा देना नेता गिरी है।

एक समय था जब नामवर सिंह कहानी-मंच पर केवल सात कहानीकारों को स्थापित करने में इतने खप गये कि उन्हें आलोचक की व्यापक दृष्टि एवं दूरदर्शिता का होश ही नहीं रहा। लगा था—जैसे सातों ने उन्हें इतना पटा रखा है और वह इतने पट-से गये हैं, जैसे पं० बंगाल का प्रसिद्ध डकैत 'खोका बाबू' से न्यायमूर्ति की पत्नी। दो लाख नक़द पर उसने अपने हाथ पर गुदना गोदवा लिया था—खोका बाबू।'···यह बात 'खोकाबाबू' को गिरफ्तार करने वाले डॉ० पंचानन घोषाल ने बताई थी।···

तो नामवर सिंह जी की अँगुलियों पर अंकित थे सर्व श्री स्व० मोहन राकेश कमलेश्वर, मार्कण्डेय, अमरकान्त, राजेन्द्र यादव फिर मन्नू भण्डारी और निर्मल वर्मा। 'सनीचर' के उस समय के अंकों में लिखा जा चुका है कि डॉ० नामवर सिंह हिन्दी कहानी-मंच पर केवल सात कहानीकारों की स्थापना धड़ल्ले से कर रहे हैं और अन्य अच्छे कहानीकारों की चर्चा करना वे ['कहानी' फिर 'नई कहानियाँ' के माध्यम से] मुनासिब नहीं समझ रहे हैं।

उस करनी का फल उन्हें सातों ने ही ऐसा दिया कि डॉक्टर साहब कुछ वर्षों तक कहीं के नहीं रहे। बेचैन रहे। उस बेचैनी की हालत में कुछ कहानियों

में वे गुरिल्लाओं को ढूंढ़ते रहे। हिन्दी कथा-साहित्य में जब उन्हें गुरिल्लाओं के दर्शन नहीं हुए, तब उन्होंने 'कविता' की तरफ अपना रुख किया। कमोवेश उन्हें, भूखी पीढ़ी, श्मशानी पीढ़ी, दक्षिण भारत की कोई और एक पीढ़ी, अकविता, अनागरिक कविता, शेष होती हुई कविता फिर युयुत्सावादी कविता—में गुरिल्लाओं के भ्रूण मिलने लगे। देखने में जैसे वह बेढंगे आदिवासी इन्सान से लगते हैं, वैसी ही बेढंगी हरकतें वे साहित्य एवं काव्य की जमीन पर करते हैं। उनमें शुभ-लक्षण कुछ काल से आता दिखाई देने लगा है। इससे हमें खुशी हुई है।

'कविता' के संदर्भ में बात की शुरूआत स्व० मुक्तिबोध से हम करना चाहते हैं। स्व० मुक्तिबोध से हमारा सीधा साक्षात्कार दिसम्बर सन् १९५७ में इलाहाबाद के प्रगतिशील लेखक सम्मेलन में हुआ था। उतना बड़ा सम्मेलन फिर कभी नहीं हुआ। संयोजक थे श्री अमृतराय। उनके साथ और भी लोग थे। उस समय 'सनीचर' मासिक था और उसके ग्यारह अंक निकल चुके थे। उस समय लघु पत्रिका दूसरी कोई नहीं थी। समय था प्रो अमरिकन एवं परिमलियन ग्रुप से प्रगतिशील ग्रुप के मुकाबले का। 'सनीचर' का साढ़े साती परिमलियन ग्रुप पर चढ़ चुका था और राजेन्द्र यादव कलकत्ते से भाग खड़े हुए थे। प्रगतिशील लेखकों की बौछारों को वे हर स्टेशन पर सह रहे थे। 'स्वाधीनता' में 'श्री डेढ़ जी के दर्शन कीजिये' रिपोर्ताज प्रकाशित होकर लेखकों में वितरित कर दिया गया था। हमारे ही हाथो। सम्मेलन में राजेन्द्र यादव की दयनीय स्थिति थी। सभागर से बाहर लॉन में डॉ० धर्मवीर भारती, विजयदेव नारायण साही, लक्ष्मीकान्त वर्मा 'जगदीश गुप्त लेखकों से भेंट मुलाकात के लिये उपस्थित मिलते थे। 'सनीचर' के कवर पृष्ठों पर डॉ० धर्मवीर भारती, विजयदेव नारयण साही 'मैं रथ का टूटा पहिया हूँ' के चित्रों के साथ आ चुके थे। फिर भी डॉ० धर्मवीर भारती अपनी उच्चतम व्यावहारिता के कारण खुशी-खुशी मिले थे—हमसे। स्व० मुक्तिबोध उस सम्मेलन में ऐसे थे—जैसे कोई आत्मा भटक रही हो। हम और श्री हृषीकेश उनके साथ रहते थे—एकाध घण्टा। श्री हृषीकेश अस्वस्थ थे। इतना कि गश खाकर गिर पड़ते थे। स्व० मुक्तिबोध एवं श्री हृषीकेश उस समय जिन्दगी को एक ही धरातल पर जी रहे थे। स्थापित लोगों से भिन्न जिन्दगी के सामान्य सतह पर श्री हृषीकेश आज भी खड़े हैं।··· 'सनीचर' के लिये मुक्तिबोध का परामर्श मिलता रहा। जबलपुर से उन्होंने 'वसुधा' पत्रिका निकाली थी। हमने अपनी एक कहानी 'अपनी-अपनी बात'

उनकी मांग पर भेज दी। कहानी छपी उस कहानी में स्व० मुक्तिबोध का चरित्र इतना स्पष्ट उभरा है, यह हमें बहुत बाद में मालूम हुआ। उनके स्वर्गीय होने के बाद मैं पश्चाताप करता हूँ। कहानी उनके पास न भेजने में ही अच्छाई थी। जो सच्चा साहित्यकार होगा, उसके लिये वह कहानी संजीवनी बूटी है। दूसरी तरफ वह कहानी, अभावग्रस्त सच्चे साहित्यकार को भूखे पेट सो जाने की पहल करती है। कलम बेचने से अच्छा भूखे पेट ही सोया जाय !

स्व० मुक्तिबोध भूखे पेट ही चले गये। लोगों को ऐश-ओ-आराम एवं शुहरत की जिन्दगी देने के लिये। भारतीय-ज्ञानपीठ ने उनकी कलम को पूँजीवादी आवरण के जाल में लेकर पूँजी एवं शुहरत कमाई। और कुछ लोगों ने अपनी पत्रिकाओं का पत्रों का विशेषांक निकाला।

मुक्तिबोध के कथा-साहित्य पर 'सनीचर—६' विशेषांक में हमने डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय से विशेष लेख मँगाकर प्रकाशित किया था। उस लेख में डॉ० उपाध्याय ने मुक्तिबोध के कथा-साहित्य का विशद् एवं विद्वतापूर्ण विवेचन किया था !...प्रशंसा तो उस लेख की सर्वत्र हुई; लेकिन डॉ० उपाध्याय ने अपने लेखों के संग्रह में उस लेख को स्थान देते हुए कहीं भी उल्लेख नहीं किया कि 'सनीचर' में यह लेख प्रकाशित हुआ है। डॉ० उपाध्याय ने इधर कई सालों से पत्रोत्तर देना भी मुनासिब नही समझा। कारण भी कुछ समझ में नहीं आता। सिवा इसके कि उनके उपन्यास 'पक्षधर' की समीक्षा 'सनीचर' में न जा सकी। इसके जिम्मेदार श्रीनिवास शर्मा थे।...

'मुक्तिबोध' का कवि ईकाई के रूप में जीता नहीं था। देश के समस्त दुखियों की पीड़ाओं का पुंज था उनका कवि। इसीलिये हम यहाँ उनकी किसी भी कविता का उद्धरण देना मुनासिब नहीं समझते। वे युग-चेता, युग-द्रष्टा, युग-स्रष्टा थे। वे युवा कवियों के अग्रज थे। उनकी कविताएँ आधुनिक काव्य की शिलालेख धरोहर हैं और नामवर सिंह ने इस 'मधु-छत्ते' को अपनी ज्ञान-दृष्टि के लिये खूब निचोड़ा।...

मुक्तिबोध के बाद स्व० राजकमल चौधरी का नाम लिया जाता है। राजकमल के व्यक्ति एवं उनकी रचनात्मक शक्ति से हम अधिक परिचित हैं, दूसरों से ज्यादा। राजकमल सन् ५८ के जुलाई महीने में 'सनीचर' कार्यालय में हमारे एक परिचित व्यक्ति के साथ हमसे मिलने आये थे। अपने साथ कुछ अप्रकाशित कविताएँ और सिर्फ एक छपी हुई कहानी ['कहानी' पत्रिका] 'आनन्द मठ' लेकर आये थे। उन्हें कलकत्ते में आये एक माह हो गया था। कहीं रहने की जगह नहीं थी। जहाँ रात में विश्राम करते थे, वह स्थान बरसात होने से टिन की छाजन से पानी चूने पर भींग जाता था। और वह एक किनारे बैठे-बैठे सारी

रात गुजार देते थे। मसूरी से कलकत्ते आये थे। यह जानने के बाद हमें सहानुभूति उनसे हुई। हमारी सहानुभूति मौखिक कहीं नहीं होती। सहानुभूति एक तो वह होती है कि अति अभाव ग्रस्त व्यक्ति को तत्काल कुछ दे दिया जाय; दूसरी तरह की सहानुभूति वह है, जिसे व्यावहार में लाने पर किसी का भार अपने ऊपर ले लेना होता है। राजेन्द्र यादव इस बात के प्रमाण हैं। 'एण्टन चेखव: एक इन्टरव्यू' सन् ५५ में हमने प्रकाशित कर उनकी मदद की थी।...

राजकमल की वह कहानी पढ़ कर हम ने उनकी अप्रकाशित सभी कविताएँ पढ़ डालीं। कविताएँ पढ़ने के बाद हमने तुरत कहा था—"नारायण जी! [शायद यही नाम था हमारे परिचित व्यक्ति का] चौधरीजी को लेकर जाइये, और तुरत इनके सामान सहित इन्हें हमारे पास भेज दीजिये। यह आ जायेंगे तो मैं इनके साथ ही बाहर निकलूँगा। ज़रा आने में जल्दी कीजियेगा चौधरी जी!'

'सनीचर' कार्यालय में एक से दो व्यक्ति हो गये।

राजकमल डेढ़ वर्ष तक हमारे साथ रहे। उन्हें 'ज्ञानोदय' में पार्ट टाइम का काम मिल गया। राजकमल ने कहा—'ललित जी! काम चलाने लायक कार्य तो मिल गया।...लेकिन इस कार्य के पाने पर मुझे आप से अलग होना पड़ेगा। साथ रहने पर कार्य छूट सकता है। मेरा समय-समय पर रचनात्मक सहयोग किसी कल्पित नाम से 'सनीचर' को मिलता रहेगा।...'

हमने कहा—'आप निडर होकर 'ज्ञानोदय' में क़ार्य कीजिये! स्थान खोज कर ले लीजिये। ज़रूरत पड़े तो हमारी निन्दा भी आप 'ज्ञानोदय' में खुले दिल से किया करेंगे। हम आप को हर छूट देने के लिये तैयार है। लेकिन 'सनीचर' का असर उतार मत फेंकियेगा। कहीं ऐसा न हो कि आप मीडियाकरों की तारीफ़ के पुल बाँधने में ही अपनी रचनात्मक शक्ति लगा दें! वह बिके हुए बुद्धिजीवियों का तबेला है। आप उस तबेले में जा रहे हैं। इसका ध्यान रहे!'

राजकमल मिलते रहे! ज़रूरत पड़ने पर कल्पित नाम से 'सनीचर' में लिखते रहे। यहाँ यह कह देने की स्थिति में हम आ गये हैं कि 'मीनल एक सामूहिक बलात्कार' 'ग्यारह सपनों का देश' की समीक्षात्मक टिप्पणी का शीर्षक था और राजकमल ने 'कैफे डि मोनिको' की एक केबिन में बैठ कर दस मिनट के अन्दर उसे लिख डाला था। पढ़ा तो लगा कुछ कमी खटक रही है। राजकमल की कलम उस समय व्यंग्य अथवा प्रहार करने की क़ला में माहिर नहीं हुई थी। हमने उस टिप्पणी में बीस पंक्तियाँ तुरत जोड़ दीं। वे पंक्तियाँ टिप्पणी के अन्दर 'बोल्ड टाइप' में छपीं। स्व० श्रीमती रमा जैन पर

सीधा प्रहार था। उस पर वह कोर्ट में हमारे ऊपर केस भी नहीं कर सकती थीं। अंक निकलने के बाद स्टाल से सारी प्रतियाँ रातों रात गायब हो गई थीं। इस का जिक्र हम अपनी जुबान से शरद देवड़ा की उपस्थिति में डॉक्टर नामवर सिंह से कैसे करते? राजकमल उस समय 'ज्ञानोदय' में थे। हाँ! राजकमल ने हावड़ा स्टेशन पर डॉ० नामवर सिंह को अलग से यह भेद बता दिया था।... राजकमल को पार्ट टाइम की नौकरी ज्यादा दिनों तक न चल सकी।...कुछ दिनों तक फ्रीलांसिंग की। फिर राजकमल ने 'रागरंग' निकालने का अवसर पाया। संचालक हमें पहले से ही जानते थे। राजकमल ने दो अंक 'रागरंग' के निकाले। रागरंग' में नव नियुक्त टाइपिस्ट गर्ल सुश्री मंजुरी हलदार की मित्रता के बहाव में आकर राजकमल ने संचालक को अँगूठा दिखा दिया। वह 'रागरंग' छोड़कर चले गये। संचालक की तरफ से मित्रता के रेशमी धागे पर आँच आने के खतरे के कारण राजकमल ने एक अच्छी पत्रिका का जीवन संकट में डाल दिया।

तीसरा अंक हमारी देख-रेख में इसलिये निकल गया था कि हमें यह पूरी उम्मीद थी कि राजकमल हमारी बात मान जायेंगे। लेकिन ऐसा नहीं हुआ बल्कि इतना और हुआ कि राजकमल ने 'रागरंग' से अलग हो जाने का आग्रह किया। हमारे सामने एक संकट यह था कि हम अलग होते हैं तो 'परमेश' का क्या होगा? हम तो संचालक की परवाह नहीं करते थे; लेकिन 'परमेश' का करते थे। हमारा सहयोग अपारिश्रमिक था। लेकिन एक बेकार रह रहे युवक लेखक को काम मिल गया था। परमेश 'ज्ञानपीठ' में एक सौ पच्चीस रुपये माह-वार पर बैल की तरह काम करता था। वह भी उसके हाथ से निकल गया था।...

अतः हम, परमेश, के साथ 'राग रंग' के संचालक को समझाकर हट गये थे।... अब परमेश का भार कुछ हमारे ऊपर आ गया था। राजकमल की कविताओं पर बात करने से पहले इतना कह देना जरूरी था।...

राजकमल का लेखन धड़ल्ले से शुरू था। सुश्री मंजुरी हालदार के साथ राजकमल ने नृत्य-संगीत का एक प्रोग्राम किया। सोंविनियर के लिये विज्ञापन भी उन्होंने जुटाये। राजकमल के आग्रह पर हमने सुश्री भारतीराय को उनसे मिला दिया। भारतीराय ने अपने ग्रूप के साथ डांस-ड्रामा प्रस्तुत करने का वचन दे दिया। ड्रामा सम्पन्न हुआ। उसके बाद ही राजकमल सपरिवार अप्रैल सन् ६३ में कलकत्ता छोड़कर घर चले गये। घर से नयी दिल्ली में रहने लगे। और मंजूरी हालदार बीमार हो कर बिस्तर पर दम तोड़ने लगी थी।...

राजकमल जब अधिक बीमार होकर पटना अस्पताल में भर्ती हुए, उसके बाद ही हिन्दी-जगत में शोर-शराबा मचा। एक लेखक की प्राण-रक्षा के लिये। कलकत्ता से हम पटना गये थे। अस्पताल में एक कमरे में राजकमल बेड पर बैठे हुए 'मुक्ति-प्रसंग' की पाण्डुलिपि देख रहे थे। हम उनकी बेड के पास २०-२५ सेकेण्ड खड़े रहे। हम नेत्रों से एक दूसरे का अभिवादन कर रहे थे।...

'कब आये आप ?'

'आज ही।'

'मधुकर जी के यहाँ हैं ?'

'हाँ !'

'बैठिये !'

बैठ गया। राजकमल ने टेबुल पर रखे गुलदस्ते से एक फूल चुन कर हमें थमाया। और उसके बाद ही 'मुक्ति-प्रसंग' की पाण्डुलिपि हमारे हाथों में दे दी— 'आप इसे देखिये ! काट-छाँट भी बताइये। आज ही इसे प्रेस में दूँगा। .. यह रहा कवर-चित्र। अच्छे मौके पर आये आप।...'

चित्र देखकर हम राजकमल के सारे उद्देश्यों को समझ गये। लेकिन कहा कुछ भी नहीं। सिवा—'अच्छा है' के।

'मुक्ति-प्रसंग' चाय की चुस्कियों के साथ हम पढ़ कर खाली हुए। जगह जगह हम ने उन अंशों पर निशान लगाया, जो 'मुक्ति-प्रसंग' को चुस्ती एवं कसेपन को काफी ढ़ीला किये हुये थे। जैसे कलकत्ते के कुम्हार टोली में अनगढ़ मूर्तियाँ बिना तराशी रखी हुई होती हैं, ग्राहक के आदेश पर उन्हें ठीक किया जाता है।......

निशान लगा कर कापी राजकमल को दे दी—'आपको भी अनावश्यक लगे, तो उन्हें हटा देंगे।'

'कविता कैसी लगी, अब यह बताइये ?'

'आप का अपना प्रलाप है। तर्जे अर्जे अन्दाजे बयाँ सपाट है। कवर पर बीमारी का चित्र है। शोर मचेगा।...इसमें कहीं-कहीं 'कविता' से साक्षात्कार होता है ! बस !...'

'इसे मैं 'अज्ञेय' को भेंट करना चाहता हूँ। इस पर भी अपनी राय दीजिये।'

'अज्ञेय' को भेंट न कर इसे आप 'श्रीमती रमारानी जैन' को भेंट करते तो आप को कुछ आर्थिक लाभ होता। 'अज्ञेय' उस तरह से आपकी मदद नहीं कर सकते। हाँ, अपने चेलों से 'मुक्ति-प्रसंग' को उछलवा सकते हैं। इसलिये कि 'ज्ञानोदय' के मंच से आपने अपनी टिप्पणी में मार्क्सवाद को हेय समझा

है। मेरे साथ आप जब तक रहे मार्क्सवाद का विरोध नहीं किया।'

'आप वास्तव में आचार्यों के आचार्य हैं! इसलिये पूछा आपसे। मुझे पैसों की जरूरत है। मैं एक फिल्म का भी निर्माण करूँगा। जीवन साथ दे गया तो।...अभी तो सारे पापों का फल भुगत रहा हूँ!'

'पापों का नहीं, अपनी आदत, लापरवाहियों के कारण आदमी बीमार होता है। अच्छाई-बुराई का ज्ञान होते हुए भी हम बहुधा बुरे काम ही करते-रहते हैं; जो समय पाकर इकट्ठे हो जाते हैं, और फिर आदमी तकलीफ पाता है। आप जितने बीमार हैं, उससे ज़रा भी कम मैं नहीं हूँ। फ़र्क यह है कि आप अस्पताल में हैं और मैं अभी बाहर हूँ। हाँ, फिल्मों का निर्माण अवश्य करें। आप की मंजिल का रास्ता वही है।'

'यहाँ कब तक रहेंगे?'

'एकाध माह।'

'इतना?'

'क्यों? कहा न मैं भी बीमार हूँ। केवल, जगह-जगह की जलवायु का सेवन कर रहा हूँ। 'सनीचर' वन्द कर दिया है। अब ठीक होने पर ही निकालूँगा।'

'चाय और चले एक कप!'

'चल सकती है।'

'मेरी सेवा में जो नर्स है, वह भली है।...मन लगा रहता है।'

'भले लोग ही मंजूरी की तरह अच्छे होते हैं, कुछ काम आ जाते हैं।'

'राजकमल हँसे—'अभी तो मैं बीमार हूँ ललित जी!'

चाय आने के साथ-साथ राजकमल को देखने कुछ लोग आ गये। चाय पीकर मैं उठा और 'फिर आऊँगा, कल या परसों' कहकर कमरे से बाहर हो गया।

हम जब तक पटना में थे, राजकमल से मिलते रहे। हमने बीमारी के बारे में राजकमल से कभी कोई बात नहीं पूछी; क्योंकि सारी दुनिया यही सब पूछने जाती है। हम जब तक राजकमल के पास रहते थे, वह बीमारी से मुक्त रहते थे। ऐसा आन्तरिकता के कारण होता है। बेशक वह हमारे आत्मीय थे। उन्होंने मुझे कभी धोका नहीं दिया।...

राजकमल चले गये। उनकी रचनाएँ रह गईं। पत्नी-पुत्री रह गईं। परिवार में और भी सदस्य हैं ही।

राजकमल पढ़ते खूब थे। विदेशों की सामाजिकता में व्याप्त सेक्स-सम्बन्धी बातें विदेशी साहित्य के माध्यम से छान कर राजकमल ने 'मछली मरी हुई'

लिख ली और विश्वविद्यालयों से निकले छात्र-लेखकों, पुस्तकों से विमुख छुट-भइये नये लेखकों, और सनातनी लेखकों-कवियों के लिये, साहित्य में रुचि रखने वाले पाठकों के लिये बाज़ार में छोड़ दिया।...एक बौड़म टाइप के व्यक्ति डॉ० रामकिशोर द्विवेदी को 'मछली : मरी हुई' बहुत जँची। द्विवेदी दिल्ली के एक सरकारी अस्पताल में उस समय डॉक्टर थे। दो-चार कविताएँ लिखकर दिल्ली के सम्पादकों के वे फैमिली डॉक्टर भी हो गये थे। उन्होंने 'सारिका' में 'मछली : मरी हुई' के माध्यम से स्व० राजकमल चौधरी की मृत्यु के उपरान्त तुरत एक लम्बा सरसराता हुआ लेख लिखा। उन्होंने एक ग़लत प्रसंग में 'ललित शर्मा' के नाम का भी उल्लेख किया था। द्विवेदी से हमारा परिचय हो चुका था—दिल्ली में। द्विवेदी को, कमलेश्वर को छठ्ठी का दूध याद आ गया था कि लेखन एवं सम्पादन किसे कहते हैं।...बहुत दिनों से कविता-मंच से द्विवेदी जी गायब हैं।...इसका दुःख है।

बेशक 'मुक्ति प्रसंग' दूसरी शुरुआत थी—देश की राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक अभाव की असहनीय स्थितियों के चित्रण की। रबड़ छन्द में सपाट बयानी के द्वारा। इस चित्रण में 'कविता' कितनी थी, अब आलोचकों एवं कवि-टिप्पणीकारों ने ध्यान देना शुरू किया है। 'कविता' को गद्य के नज़दीक लाया तो गया; किन्तु कथ्य की सपाट बयानी के बहाव में एवं काव्य-परम्परा को जड़ से नष्ट करने की खामख्याली में 'कविता' के अवयवों को काट दिया गया, सिर्फ उसके नाखून ले लिये गये। सातवाँ दशक साहित्य की हर विधा को खरोंच दे गया। ऐसा इसलिये हुआ कि जिस तरह 'उत्पादन में यथेष्ठ वृद्धि समाजवाद की पहली शर्त है,' कुछ उसी तरह 'कविता' का अधिक उत्पादन तभी होता है, जब राष्ट्र, विरोधी स्वरों से गूँजता है। तानाशाही जब क्रूरता का रुख अख्तियार करती है और अपनी चरमावस्था तक पहुँचती है। क्रूरता की चरमावस्था में 'कविता' को बन्दी बना लिया जाता है।

ऐसे समय में कविताओं का यथेष्ट उत्पादन 'अपाच्यमाल' को ही ग्रहण करता है और उस क्रूरता की चरमावस्था में ही [आपात काल] अच्छी कविताएँ भी लिखी गईं। जिसमें नारे बाजी नहीं थी। गोला-बारूद नहीं था और औरतों की जँघाओं की अँधेरी गुफाएँ नहीं थीं। शुद्ध कविताएँ थीं वे। जिनमें नये-नये प्रतीकों, बिम्बों [मन को लुभाने वाला नहीं] कथ्य की नई सम्प्रेषणीयता के द्वारा तानाशाही क्रूरता को चीरा गया था। जिसकी समझ और पकड़ किसी कवि को या कविता के प्रबुद्ध पाठकों को ही हो सकती है, सत्ता को नहीं।

सन् ६० एवं सन् ७४ में भी तमाम पीढ़ियों की अफलातूनी कविताओं के बावजूद अच्छी कविताएँ लिखी गईं थीं। लेकिन पीढ़ियों के शोर-शराबे के कारण वे राख के नीचे दबी रहीं—जीवंत।

'मुक्ति प्रसंग' ने भूखी-पीढ़ी, श्मशानी पीढ़ी, अकविता, अनागरिक कविता, युयुत्सावादी कविता, मराठी में 'दलित कविता' के कवियों को प्रेरणा दी, उसने अपना तर्जे-बयाँ दिया। 'अकविता' जब शुरू हुई तो उसके कवियों ने अपनी ही आन्तरिक व्यवस्था को अनावृत कर मुहावरेबाजी एवं भाषा की चरित्रहीनता द्वारा 'अकविता' का रूप खड़ा किया।

'अकविता' ने बेरहमी से सड़ी-गली, रूढ़ परम्पराओं को तोड़ने का माध्यम बनाया—सभ्यता के कपड़े से ढँकी हुई योनि को उघाड़ कर। 'अकविता' के हस्ताक्षरों ने इस माध्यम का अन्धाधुंध प्रयोग किया।

मैं अपने मासिकी कपड़ों को
तमाम पुरुषों के चेहरों पर
पोत देना चाहती हूँ;······[मोना गुलाटी]

(भला क्यों? इसे तो 'अकविता' के प्रवर्तक जगदीश चतुर्वेदी के चेहरे पर पोतना चाहिये) हुआ यह कि 'अकविता रक्त-स्राव' की बदबू से भर गई। यानी वह मासिकी कपड़े से इतर कुछ भी नहीं बन पाई। जैसे अभी कांग्रेसी टोपी का जर्जर कपड़ा मासिकी कपड़े का काम कर रहा है। [पाँच बरस बाद : प्रमोद त्रिवेदी की कविता : कविता–६ में प्रकाशित। १६७५ ई० अलवर : राजस्थान] फिर 'कविता' को अंधेरी गुफाओं से निकाल, उसे हथियार बनाने का संकल्प लिया गया। यह भी बेजोड़ नुस्खा खोजा गया था। 'आपात काल' के मध्य तक पहुँचते-पहुँचते हथियार बनाने वाले कवि, कविता को गोला-बारूद से भर देने वाले कवि हथियार को कागजी शेर की शक्ल में पाकर त्राहिमाम्··· त्राहिमाम् जब करने लगे, तब वे सुलझे हुए विचारों के आलोचक श्री हृषीकेश के शरणागत हुए कि हमारी गलतियों एवं भूलों पर एक दस्तावेज लिख दीजिये। उन्होंने बहुत घेराव एवं अनुनय-विनय के बाद लिखने की हामी भर दी। 'युवा–२' में प्रकाशित उस दस्तावेज का एक अंश हम यहाँ आपके लिये उपलब्ध करा रहे हैं :—

'कविता की भूमिका : कविता से खिलाफत : श्री हृषीकेश :

कहानी क्या सचमुच ही, जैसा कि उस आयरिश लेखक ने लिखा है, गुरिल्ला-लड़ाई है, जो सरहदों पर लड़ी जाती है? हिन्दी में कहानी की इतनी चर्चा, जब कि दूसरे देशों में इस विषय पर एकदम सन्नाटा···क्या हिन्दी में भी कहानी

का सच्चा संघर्ष इस शाब्दिक संग्राम की बाहरी सीमाओं पर नहीं चल रहा है ? एक समय रूस के ऐसे ही सरहद पर चेखोव की कहानियों को लड़ना पड़ा था, और फिर उसके बाद अमेरिकी सरहद पर हेमिंग्वे और उसकी पीढ़ी को।' (नयी कहानी; एक और शुरूआत—नामवर सिंह)

इस विवाद में पड़े बिना कि दरअस्ल गुरल्लिा-लड़ाई आमतौर पर सरहदों पर लड़ी जाती है या नहीं गुरिल्ला-लड़ाई सरहदों के भीतर की सरहदों के भी भीतर ज्यादा कारगर ढंग से लड़ने के लिये है।) हम इस विवाद को एक अरसा से समझने की कोशिश करते रहे हैं कि वह कौन सी लड़ाई है जिसके लिये सन् ६५ से ७५ के बीच बड़े हौसलाबद्ध तरीके से कविता को हथियार बनाकर लड़ाई लड़ी गई (जैसा कि अनेक सुकवि बताते रहे) और कविताई कहीं पीछे छूटती गई। ध्यान दिया जाय कि 'लड़ाई' के वास्ते (जिसका वास्तविक स्वरूप ९९ प्रतिशत कवियों के जेहन में हमेशा नामालूम रहा) कविता को 'हथियार' बनाने की प्रतिज्ञा (पारम्परिक हथियार या विस्फोटक या महज संगीन की नोक सदृश, इस परिकल्पना का तो प्रश्न ही नहीं उठता) यह सब अपने आप में बड़ी व्यक्ति-परक, खामख्याली से भरी, रूमानी और बेहद अमूर्त साहित्यिक प्रक्रिया रही है। इससे बड़े झूठ और धोखे की कल्पना कठिन है। कवियों ने इस झूठ और धोखे की ढाल से (ढाल भी हथियार ही तो है) लगातार अपने को घायल होने दिया— इसलिये न तो उनकी कोई 'लड़ाई' थी न शायद अब भी है। अतः कविता 'हथियार' नहीं बन सकती थी; क्योंकि उनके पास कविता भी नहीं रही। यह सारी विडम्बना और इतना बड़ा घपला महज इस अहसास के कारण हुआ कि 'लड़ाई' की अमूर्तता में ही लड़ाई के 'हथियार' की अमूर्तता भी तय की जा चुकी थी। और ऐसा भी इसलिये कि अपनी 'भूमिका' की अतिशयोक्ति गढ़ चुकने के बाद सार्थकता की अतिशयोक्ति तो गढ़ी जा चुकी होती ही है। वह आयरिश लेखक चाहे (जिस औकात का) जो भी लेखक रहा हो उसे यह मालूम होना चाहिये था कि कहानी (या साहित्य की सर्वोच्च लड़ाका भूमिका लड़ाई लड़ सकने की उकसाहट पैदा करने, मनुष्य जीवन की तमाम विपरीतताओं में उसकी महानता की परख आखिरी दम तक गरिमा प्राप्त करने, संघर्ष करने संबल प्राप्त करने का अहसास लाना होता है। चेखव और हेमिंग्वे से भी ज्यादा सूक्ष्म माध्यम के सहारे पिकासो ने भी तो ऐसा बहुत कुछ किया था (लड़ाई लड़ी थी) जिसे आयरिश लेखक के सुझाव के निस्बत भोंथरे कोण पर परखा नहीं जा सकता तो वह 'सरहद कौन है, कहाँ तक है ? यह न आयरिश लेखक को मालूम है न ही नामवर सिंह को। यह 'सरहद' भी उतना ही वायवी और अमूर्त है जितना

'लड़ाई' या कविता, या कहानी भी। गुरिल्ला लड़ाई न वायवी होती है न अमूर्त, क्योंकि उसमें घँस कर लड़ने की शुरूआत का तर्ज उस तरह आकर्षक नहीं होता जिस तरह नामवर सिंह के लेख की शुरूआत।

जाहिर है जब वह लेख लिखा गया था तब नामवर सिंह हिन्दी की कहानी में गुरिल्ला लड़ाई तजवीज कर रहे थे क्योंकि तब नयी कविता को चाँप कर कहानी की चर्चा चल चुकी थी। शीघ्र ही नामवर सिंह को हिन्दी कहानी में शाब्दिक संग्राम को बाहरी सीमाओं पर लड़ने की 'रेनेगेसी' पहचान में आ गई और उनका 'डेविएशन' कविता की तरफ हो गया। आखिर निर्मल वर्मा की कहानियों की संगीतमयता और चित्रात्मकता से गुरिल्ला लड़ाई लड़ी भी कैसे जाती! वह तो बाहरी सीमाओं पर शाब्दिक संग्राम के काबिल चीज भी न थी। हमें यक़ीन है अपनी ही भूमिका (निश्चय ही गुरिल्ला आलोचक की भूमिका नहीं) अमूर्त समझ के कारण उतना वर्ष पहले अगर नामवर सिंह ने कहानी पर लेख लिखने की आकर्षक शुरुआत करने के फेर में आयरिश लेखक का वह कथन खर्च न कर दिया होता तो आज उसे वे कविता पर लेख लिखने के काम ला सकते थे। सन् ६५ से ७५ के बीच इस सालों में 'लड़ाई' जो भी लड़ी गई वह किसी से छिपी नहीं है। गलत या सही अच्छी या बुरी अधूरी या पूरी। पर संवैधानिक या गुरिल्ला? जाहिरा तौर पर गुरिल्ला नहीं। वस्तुपरक स्थिति में देश की अधिकांश सामन्त संस्कारग्रस्त जनता एक अराजक मनोदशा में केवल सरकार के विरोध की मुद्रा में स्फीत होती रही—व्यवस्था से विद्रोह में तत्पर नहीं। सरकार व्यवस्था नहीं है और विरोध विद्रोह नहीं है। इन गुजरे दस वर्षों में हिन्दी के कवि सरकार को व्यवस्था, विरोध को विद्रोह, और निजी आक्रोश को 'गुरिल्ला लड़ाई का हथियार' बना कर व्यवस्थापलट कविताएँ लिखते-लिखते कविता को पलट चुके थे क्योंकि वहाँ महज बाहरी सीमाओं पर शाब्दिक संग्राम ही चलता रहा। इन दस वर्षों में हिन्दी कविता का शाब्दिक संग्राम अपने गुरिल्लाई अन्दाज में हेगलीय प्रत्यय की तरह अमूर्त बन गया। लगभग परम अलक्ष्य-अगोचर। लड़ाई, लड़ाई की भूमिका, लड़ाई लड़ने का हथियार—और बेशक वह रोमांटिक शब्दरणनीति, सभी कुछ वायवी ही था। शुद्ध साहित्यिक लम्पटता। वास्तविक विद्रोह की बनती हुई वस्तुपरक स्थिति को असमंजस और विभ्रम में फँसा देने की भीतरघाती कुचेष्टा। वह अंधड़ ऊपर से जैसे गुजर गया है। गोया वह एक बगूला था जो ऊपर से उतना दहशत पैदा नहीं करता जितना भीतर की आक्रान्ति से डरावना लगता है। हिन्दी की यह कविता गुरिल्ला लड़ाई के सामर्थ्य के भीतर से नहीं, अपनी कर्तव्यहीनता भूमिकारहितता सामाजिक चेतना-

शून्यता, रचनात्मक विपन्नता और भाषाई-भ्रूणता में से उपजी थी। यथास्थिति-वादी कवियों की सामन्ती ठसक और अभिजात संलग्नताओं में से गुरिल्ला लड़ाई लड़ने लायक कोई भी वैचारिक या अभिव्यक्तिजन्य 'हथियार' केवल 'बूमरैंग' ही कर सकता था। नामवर सिंह बताने की स्थिति में हो सकते हैं कि उनकी गुरिल्ला लड़ाई वाली सरहदों पर कविता—पल्टनों ने क्या करिश्मा दिखाया ? कहना न होगा कि अगस्त ७५ में उन्होंने शायद इन्हीं कविताओं को महज विरोध की कविता कह कर खारिज कर दिया था...।'

प्रत्येक पीढ़ी एवं उसके स्लोगन का भार उठाती-गिराती 'कविता' सन् ७२-७३ से 'विचार कविता' के रूप में मुकम्मिल रूप में आज हमारे काव्य-क्षितिज पर सूर्य की तरह प्रकाशवान है। क्योंकि सही मायनों में वह 'प्रगतिशील विचार कविता' है। इसमें जुझारूपन की नाटकीय मुद्रा का तेवर जिन्हें दिखाई देता हो, खासकर डॉ० जगदीशगुप्त को अपनी आँखों के चश्में का नम्बर बढ़वा लेना चाहिये। ज्यादा पढ़ते-पढ़ते धुंधलका दिखाई देने लगता है ! इसलिये वह बुद्धि के ज्ञानवान् तत्वों को झकझोरता रहता है।...

'आपातकाल' में लिखी गई कुछ 'प्रगतिशील विचार कविता' का उल्लेख हम करना चाहते हैं। आपातकाल में अलवर से प्रकाशित 'कविता' का एक अंक सन् ७५ में मार्च के बाद निकला था। मार्च में अलवर में ही एक लेखक शिविर का आयोजन 'कविता' के सम्पादक भागीरथ भार्गव ने किया था। उस अंक में 'लेखक-शिविर' की रिपोर्टिंग भी छपी है। यह कहना पड़ेगा कि देश की राजनैतिक स्थिति की सड़ी-गली स्वार्थी रूढ़ियों को कुछ तेज़ किस्म के कवियों ने उसे ही अपनी कविता का विषय बनाया। और उस पर जबर्दस्त प्रहार किया। लेकिन ऐसा नहीं है कि उन कविताओं में आप को कहीं नारेबाजी दिखाई पड़े। जिन लोगों को नारेबाजी दिखती हो, वे ऐसे लोग होंगे, जो जुझारू मजदूरों के जुलूसों के नारों से अपनी आरामदेह, धूपसेंकी जिन्दगी में खलल पड़ना मानते रहे होंगे। उनकी बौद्धिकता को यह सब गँवारा नहीं होता। दरअसल वे कहीं न कहीं पूँजीवाद की नफासत-शराफत (!) को तसदीक करते रहते होते हैं।...

ऐसे कवि राजनैतिक-कवि हैं। बासी एवं जुगालिया मुहावरों से दूर। 'धूमिल' की तरह। 'कविता' में प्रकाशित कुछ नव्यतर कवियों की राजनैतिक कविताएँ हैं। जिन्हें समझने के लिए और जाँचने के लिए 'कविता' सम्पादक ने दो आलोचकों के पास भेजा था। डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय एवं डॉ० ओमप्रकाश ग्रेवाल। यहाँ हम कविता पाँच 'बरस बाद' उद्धृत करते हुए दोनों आलोचकों की आलोचकीय दृष्टि का भी उल्लेख करेंगे फिर हम अपनी टिप्पणी

देंगे ताकि पाठकों को यह पता लग जाय कि 'आपातकाल' में सत्ता के खिलाफ़ उपस्थित होने में लोग कितना डरते थे और बच-बच कर कार्य करते थे। कवि प्रमोद त्रिवेदी एवं सम्पादक : 'कविता' की हम प्रशंसा करेंगे कि 'आपातकाल' में उक्त कविता का प्रकाशन कर उन्होंने 'इन्दिरा-सत्ता' पर कितना साफ़ और जबर्दस्त हमला किया था, यथा—

● **पाँच बरस बाद : प्रमोद त्रिवेदी**

पाँच बरस बाद
फिर उन्हीं सीढ़ियों पर चढ़ते हुए
आज उत्साह नहीं
सिर्फ सन्ताप है
आँखों में धुन्ध
और,
गले में शब्द नहीं
सिर्फ़ गरगराहट है
मेरा एक पाँव जमीन पर है
और दूसरा—
पक्षाघात का शिकार
हवा में झूल रहा है
चढ़ती उम्र में
भारी शरीर का बोझ
सिर्फ एक पाँव पर है
अरसे से।
पाँच बरस से मैं,
लगातार इस कोशिश में हूँ।
कि दूसरा पैर भी
जमीन छुए
पर वह हमेशा-हमेशा के लिए
अनिश्चिय का होकर रह गया है।
पाँच बरस पहले
मैंने अपना चेहरा
शीशे में देखा था
आज—
जब मैं फिर शीशे के सामने खड़ा हूँ
आइने पर कोई अक्स नहीं है
वह
हवाई जहाज से उड़कर चली गई है
दूर···
जब वह वापस लौटेगी
तो किसी को भी नहीं बख्शेगी।
क्रान्ति के खिलाफ क्रान्ति का आरम्भ
अब जल्दी ही होने वाला है
संसद-सदस्यों का दल
मार्च-पास्ट करते आ गया है,
पार्लियामेन्ट स्ट्रीट से
जन पथ पर
भयभीत जनता घुस गई है, अपने घरों में
किसी को भी पता नहीं
कब क्या होगा
कब हत्या, लूट, बलात्कार और आगजनी
का उत्सव शुरू होगा।
और पुलिस, वीरता और सेवापदक से
सम्मानित होगी
और अन्त में
वे,
वक्तव्यों की फसलें काटेंगे।
अकादमी से लौटते हुए
उसने कहा था—

आँखों की रोशनी
और
ज़िन्दगीभर दिमाग़ खपाने के बाद
आज मैंने जाना
देश सिर्फ़ टोपी है,
टोपी का दर्द देश का दर्द है
और टोपी के खिलाफ़ होना
देश के खिलाफ़ होना है
वे गद्दार हैं—
जो टोपी गिराते हैं
और वे देशभक्त
जो टोपी की हिफ़ाजत कर रहे हैं
टोपी के भीतर हैं
कुछ चूहे
जो लगातार टोपी को कुतर रहे हैं....'
यह संकट गम्भीर है
और सब लाचार हैं
और प्रतीक्षारत !
वह आती है—
गुस्सैल और कहती है—
'बन्द करो यह सब !'
और वे सब अपने अपने उपस्थ
खुजलाते
सोच में डूब जाते हैं
टोपी और चूहे का खेल रुक जाता है
और भीड़ बेसब्र।
वे चिन्दियों को फिर टोपी की शक्ल में
बदलने की कोशिश करते हैं
और वह कुछ भी हो जाता है
बदशक्ल !
उसका गुस्सा
मुस्कराहट में बदलने लगता है
रफ्ता-रफ्ता
और वह फिर कहती है—
'कोई फ़िक्र नहीं
टोपी अब सुरक्षित है
इसे सौंप दो मुझे....'
और तब वे सब हो-हो करते
अपनी भारी गर्दन हिलाते
और
तमाम बातों को भूल कर
आदत से लाचार
फिर शुरू करते हैं वही खेल
टोपी और चूहे का
टोपी के खिलाफ
टोपी की हिफाजत में
और
वह
टोपीनुमा तार-तार चीज़ को हासिल कर
कहती है—
'इसी से होगा' कुछ
काफी मुलायम है
और आरामदेह भी
तकलीफ के दिनों में
ठीक रहेगा
रक्त-स्राव से हिफाजत में....'
मैं देख रहा हूँ
पाँच साल से
देश को जांघ के बीच दबाये
तकलीफ़ के दिनों में
वह आराम महसूस करती है।
फिर एक दिन
जब देश रक्तस्नात हो जावेगा
वह उसे सण्डास में फेंक देगी

अपने को स्वस्थ अनुभव करते हुए…
अकादमी से लौटते
उस हाँफते हुए आदमी के सवालों का
कोई उत्तर नहीं
मेरे पास ।
यही क्यों
मेरे सवालों का भी
मेरे पास कोई उत्तर नहीं है ।
हाँ,
पाँच बरस पहले
ताजे मांस का एक टुकड़ा, उन्होंने
मेरी ओर फेंका था
और
उसकी सूखी हड्डी को
मैं आज तक चिचोड़ रहा हूँ
वे मुझे नये-नये करतब सिखाते गये
और
आज मैं उन तमाम करतबों में
माहिर हो गया हूँ
एक करतब—
यह भी कि—
मालिक के इशारे पर मैं
कभी-कभी उस पर झपटता हूँ
और
गुर्राता हूँ
मलिक खुश होकर
एक टुकड़ा फेंक देता है ।
इसे असलियत समझ कर लोग
ताली बजाते हैं, फिर एक बार—
और मैं
भीड़ को सलाम करता हूँ
पाँच वरस से यह खेल जारी है
और पता नहीं कब तक जारी रहेगा
यही खेल ।
पाँच बरस पहले
आइने के सामने खड़े होकर
मैंने अपना एक सफेद बाल
उखाड़ दिया था,
आज मैंने
सफेद बालों से झाँकता
एक काला बाल
उखाड़ दिया है ।
राशन की दूकान पर
रेत, यह कहके दी जा रही है—
'आग कैसी भी हो
बुझाने के लिये
रेत ही कारगर होती है
ज्यादह ।'
फिर वह
दायीं आँख दबा कर कहता है—
'चाहो तो आग बूझा सकते हो
और झोंक सकते हो
किसी की आँखों में
जरूरत के मौके पर ।'
एक कविता लिखी थी
'बसन्तागम'
पाँच बरस पहले
राशन की दूकान पर खड़े
आज
पाँच बरस बाद
अश्रु गैस के धुएँ में
रेत की पोटली दबाये
बसन्त का नहीं
बसन्त की धूर्त्तता का हिसाब लगा
रहा हूँ ।
मैं समयहीन समय के बीच

डॉ० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय ने उपरोक्त 'कविता' की तीन पंक्तियाँ :—

"मेरा एक पाँव जमीन पर है
और दूसरा पक्षाघात का शिकार
हवा में झूल रहा है !"

और फिर चार पंक्तियाँ :—

'एक मतलब यह भी है कि
मालिक के इशारे पर मैं
कभी-कभी उस पर झपटता हूँ···और मालिक
खुश होकर टुकड़ा फेंक देता है।'

उद्धृत कर लिखा है—'इन 'नए' पर्यवेक्षकों से 'कविता' का यह कविता-संग्रह भरा पड़ा है। ये नव्यतर कवि ही, सप्तन दशकियों के पाखण्ड का खंडन कर रहे हैं जो अब बहुत जरूरी है।' प्रबुद्ध पाठक उपरोक्त कविता पर दी हुई उस आलोचकीय दृष्टि को क्या कहेंगे ? राजनैतिक उस बड़े अंश पर उन्होंने अपनी दृष्टि क्यों नहीं उठाई ? किस डर से डॉ० उपाध्याय ने अपना बचाव आँखों में रेत झोंक कर लिया ? गुरिल्ला लड़ाई का अजान देने वाले डॉ० उपाध्याय 'आपातकाल' की 'महामाया' से उसके घिनौने इरादों से साक्षात् क्यों नहीं कर पाये ? सवाल अपनी जगह पर दुरूस्त है और कायम है। रहेगा !
घोषित रूप से अपने को मार्क्सवादी मनवाने वाले डॉ० ओम प्रकाश ग्रेवाल हमें, या तो मूलतः कांग्रेसी या फिर व्यक्तिगत रूप से 'महामाया'-समर्थक जान पड़े हैं—उपरोक्त कविता पर अपनी दी हुई टिप्पणी में !

'टोपी और चूहों' के खेल का संचालन जिस नेता या मदारी के हाथ में है उसकी बड़े बचकाने ढंग से खिल्ली उड़ाई गई है।'—डॉ० ग्रेवाल

डॉ० ग्रेवाल के इस कथन पर हम आश्चर्य-चकित हैं।

जब आज की कविता आलोचकों की समझ के बाहर पड़ती है, तो वे जबर्दस्ती आलोचना क्षेत्र में क्यों घुसपैठ कर रहे हैं ?

'कविता' के उपरोक्त अंक में ही कुछ और कवियों की राजनैतिक कविताएँ हैं। उनमें नरेन्द्र जैन, और रमेश शर्मा कुशल कवि के रूप में दृष्टि कोचर होते हैं।

राजनैतिक कविता के कवियों में 'धूमिल' का कोई मुकाबला नहीं। बशर्ते यह न सोचा जाय कि धूमिल को राजनीतिकी उसके खतरों की, भविष्य पर पड़ने

वाले प्रभाव को सही जानकारी थी ! वे कवियों, प्रबुद्ध पाठकों के लिये कविताएँ लिखते थे, उनकी भाषा का लहजा ठेठ हिन्दुस्तानी लहजा था । डॉ० रमाकान्त शर्मा ने 'मधुमती' के मार्च १६७७ अंक में 'सार्थक और न्यायपूर्ण ज़िन्दगी की तलाश : घूमिल की कविताएँ' शीर्षक अपने लेख में 'घूमिल' की कविताओं की थोड़ी पहचान पेश की है । घूमिल अर्द्धक्रान्तिकारी कवि थे—

अपनी आदतों में फूलों की जगह पत्थर भरो / मासूमियत के हर तकाज़े को ठोकर मार दो / अब वक्त आ गया है कि तुम उठो / और अपनी ऊब को आकार दो ।

प्रजातंत्र के हर जुमले की उन्होंने नयी व्याख्या प्रस्तुत की है । वे जनता की भेड़पन से सर्वाधिक दुःखी कवि थे । इसलिये उनकी 'पटकथा' में घोर निराशा भरी हुई है । जो किसी भी जागरूक कवि के लिये दुःखद स्थिति है । मानना पड़ेगा कि घूमिल ने कविता को एक नई जवान दी है । मुँहफट-खुर्राट । हम उनकी कविताओं को पसन्द करते हैं, लेकिन ऐसा नहीं कि और कहीं आँख नहीं ठहरे । हमारी आँखें तो ठहराव पर भी ठहरतीं हैं कि आगे अवश्य ही कुछ नया दिखाई देने वाला है । घूमिल राजनीतिक मुद्दों पर निराशा से आक्रान्त थे ।

समकालीन कविता काव्य-क्षितिज को लाल रंग से भर रही है और 'माटी की गंध' के आस-पास गूंजने लगी है । छायावादी कविताएँ आकाशचारी थीं । उसके कवि अपनी कथाएँ चाँद-सितारों-बादलों को सुनाते थे । चाँद पीड़ित होता था, सितारे रोते थे और बादल आँसू बहाते थे । इससे अधिक और कुछ नहीं ।

समकालीन कविता बहुत लम्बा सफ़र तै कर पहाड़ों, नदी-नालों को डाकती माओ-त्से तुंग की तरह सत्ताइस नदियों को पार करती कट-छँटकर दुरुस्त साहस के साथ श्रमिक किसानों के पास पहुँची है । मजदूरों के पास पहुँची है । और संसद में पहुँच कर जनता की वकालत कर रही है ।

'भंगिमा—४५' का पंजाबी कवितांक देख कर लगा कि पंजाबी कविता, हिन्दी कविता के समकक्ष तो अभी नहीं आ पाई है, लेकिन वह प्रौढ़ होने की दिशा में अग्रसर है । अमरजीत चन्दन, पाश, मोहनजीत, सुरजीत पात्तर, हरभजन हलवाखी, हरभजनसिंह हुंदल, लालसिंह दिल, ने बेशक पंजाबी कविता की रूमानियत से भरी जमीन को तोड़ा है । [वेमुरव्वत होकर नहीं ।] जनवादी कविता को कविता के फ्रेम में उतारा है । पाश की कविताओं का कैनवास बड़ा हुआ है और जन चेतना की लो से दीप्त हुआ है । पाश की कविता में हिन्दी कविताओं की तरह नारेबाजी नहीं है ।

पाश की एक कविता का जायज़ा लें :—

● हम लड़ेंगे साथी

हम लड़ेंगे साथी उदास मौसम के लिये
हम लड़ेंगे साथी गुलाम इच्छाओं के लिये
हम चुनेंगे साथी ज़िन्दगी के टुकड़े ।

[कोई नारेबाज हिन्दी कवि ऐसा लिखता—
हम लड़ेंगे, सैनिक होकर व्यवस्था के लिये
हम लड़ेंगे कामरेड हो सर्वहारा के लिए
हम चुनेंगे दोस्त, पूँजीवादी के टुकड़े ।—सं०]
हथौड़ा अब भी चलता है उदास निहाई पर
हल की लीक अब भी बनती है चीरती हुई धरती पर
फिर भी कुछ नहीं होता सवाल नाचता रहता है ।
सवाल के कन्धों पर चढ़ कर हम लड़ेंगे साथी ।
कत्ल हो चुकी भावनाओं की कसम खाकर
बुझी हुई नज़रों की कसम खाकर
हथेलियों के घट्ठों की कसम खाकर
हम लड़ेंगे साथी ।
हम लड़ेंगे तब तक
जब तक बीरू बकरिहा
बकरियों का रक्त पीता है
खिले हुये फूलों को जब तक
हलवाहे खुद नहीं सूंघते
सूनी आखों वाली गांव की अध्यापिका का पति
जब तक जंग से वापस नहीं आता
जब तक पुलिस के सिपाही
अपने ही भाइयों का गला घोंटने को मजबूर हैं
कि दफ्तरों के बाबू जब तक
लिखते अपने ही लहू से अक्षर
हम लड़ेंगे जब तक दुनियाँ में लड़ने की जरूरत बाक़ी है ।
जब बन्दूक न हुई तब तलवार होगी
ज़ब तलवार न हुई तो लड़ने की लगन होगी

लड़ने का ढंग न हुआ तो लड़ने की जरूरत होगी
और हम लड़ेंगे साथी
कि लड़ने के बगैर कुछ नहीं मिलता
हमें लड़ेंगे कि अभी तक लड़े क्यों नहीं
हम लड़ेंगे
अपनी सजा कुबूल करने के लिये
ये लड़ते हुये जो मर गये
उनकी याद ज़िन्दा रखने को
हम लड़ेंगे साथी।''''''
[अनुवाद : अमरजीत चन्दन एवं पंकज सिंह]

●

'धरातल'—१ सितम्बर १९७७ के अंक में प्रकाशित श्री नवलकिशोर नवल के विशेष लेख का शीर्षक है :'बौखलाए हुये आदमी का संक्षिप्त एकालाप।'

यानी घूमिल एवं उनकी कविताओं पर वृहद विवेचना। श्री नवल किशोर नवल की उक्त विवेचना के बाद घूमिल की कविताओं पर अलग से कुछ कहने की आवश्यकता बिल्कुल नहीं है। नवल जी की बेबाक, स्पष्ट दृष्टि को हम प्रशंसा करते हैं;
घूमिल की कविताओं की आँख-मूँद कर प्रशंसा करने वाले कवियों 'आलू-चखों' को सावधान रहना चाहिये। कहीं ऐसा न हो कि हमें, उन्हें भी राजनीतिक-समझ से शून्य रहने वाले 'ऊँटों के रिसाले' में फेंक न देना पड़े।

घूमिल की भाषा के बारे में नवल जी का विचार है : 'वास्तविकता यह है कि ऐसी अभिव्यक्ति में युवा कवि भाषा के स्तर पर भी यथार्थवादी बनने की कोशिश करते रहे हैं। जैसे उनकी वस्तुगत यथार्थ की समझ गड़बड़ रही है, वैसे ही भाषागत यथार्थ की भी। एक की समझ गड़बड़ होने पर दूसरे की समझ का भी गड़बड़ होना स्वाभाविक है।'''यथार्थ के अधूरे ज्ञान की स्वाभाविक परिणति 'सिनिसिज्म' में होती है।'''घूमिल निम्न-पूँजीवादी मनोवृत्ति के कवि हैं।''''

'धरातल' के उसी अंक में श्री खगेन्द्र ठाकुर की एक टिप्पणी है 'साहित्य में आधुनिकता और प्रगतिशीलता क्या है ?'

'इस प्रसंग में हम उस प्रवृत्ति का भी जिक्र करना चाहते हैं, जो कुछ साल पहले हिन्दी में अकविता, अस्वीकृत कविता आदि के नाम से चर्चित हुई थी। इस धारा के कवियों ने अपने को परम्परा और इतिहास से एकदम अलग कर लेने

की घोषणा कर दो। [मनुष्य की तरह वे अलग भी नहीं रह सके, वे तो जंघाओं को गुफाओं में घसने लगे थे। भला वहाँ रहने की कोई जगह थी ? सं०] कुछ अति क्रान्तिकारियों ने भी इसी तरह की बात कही थी। इसी कारण वे न तो वर्त्तमान को समझ पाये और न विकास की दिशा को समझ पाये। इस धारा के लेखक भी व्यक्तिवाद की परिधि में ही घिर रह गये। और आधुनिकता की सही दिशा से नहीं जुड़ सके। वास्तव में आधुनिकता सामाजिक यथार्थ की विकास-धारा से अभिन्न है और इसीलिये प्रगतिशीलता से भी अभिन्न है। सामाजिक यथार्थ स्थिर नहीं, गतिशील हैं, परिवर्तनशील है और उसका परिवर्तन मानव समाज को प्रगति की ओर ले जाने के लिये होता है। इस तरह प्रगतिशीलता और आधुनिकता भी एक दूसरे से अभिन्न हैं। इतिहास, जनता और प्रगति के प्रति उत्तरदायित्व का बोध ही लेखक को आधुनिक बनाता है।'

ये बातें आलोचकों-टिप्पणीकारों ने समय-समय कही हैं इसलिये कि कवियों का एक बहुत बड़ा तबका परम्पराओं को बेरहमी से तोड़ रहा था, उसके बदले किसी नई परम्परा का जन्मदाता वह न हुआ। हमने कलकत्ते में देखा था कि लोग मुखौटे लगा कर परम्परा, परिवार, साहित्य-काव्य की प्रसिद्ध कृतियों को तोड़ रहे थे, वे काफ़ी हाउस में केवल खैनी खाकर उठ जाते रहे और खलासी टोला पहुँच कर नशे में साहित्य की ऐसी की तैसी करने—हँसने में अपना आपा खोते रहे थे।...और ठीक ५ ता० को तनख्वाह मिलने पर बीवी-बच्चों के खर्च के लिये अपने-अपने घरों को एम. ओ. करते रहे थे। उनके यहाँ शादियाँ दस-बारह वर्ष के बच्चों की होती रही थीं।...केवल साहित्य-काव्य की ज़मीन पर वे वह तलवार भांजते रहे; जिससे किसी की क्षति होने वाली नहीं थी; सिवा उनकी उम्र और उनके साहित्यिक भविष्य की।...

परम्परा-भंजक कवियों की बेशुमार कविताओं की भीड़ का शोर थमते ही, उन कविताओं की जाँच-पड़ताल होने लगी है, जो राजनैतिक, सामाजिक यथार्थ की समझ एवं मानव समाज को प्रगति की दिशा में ले जाने की यथार्थवादी कला से दीप्त हैं। सातवें दशक से आपात काल के शुरू होने तक कुछ कविता-संकलनों, पत्रिकाओं के पृष्ठों से उन्हें प्रकाश में लाया जाता रहा है! आपात काल में ही 'पहल' में प्रकाशित कुमार विकल की कविता 'विपाशा' की सुचर्चा हमने सब जगह सुनी है। हम विस्तार में जाना चाहें तो कविता-विशेषांक में फिर कविताएँ नहीं आ पायेंगी, फिर भी कुछ कविताएँ हमारे सामने ऐसी रखी हुई हैं कि उनका उल्लेख न करना ठीक वैसा ही होगा जैसे 'धर्मयुग' में प्रकाशित लघुपत्रिकाओं की परिचर्चा में श्री राजीव सक्सेना द्वारा 'सनीचर' का नाम न

लेना। प्रतिबद्धता इसे भी कहते हैं कि आप जिस 'पत्रिका-परिवार' से बँधे रहे हों, वक्त आने पर उसे याद कर लें। बहरहाल ! जो बंधे नहीं थे, उन्होंने याद किया।···

एक महत्वपूर्ण कवि और हैं जो सन् ५८ में अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखा चुके हैं 'कवि' के माध्यम से। श्री विष्णुचन्द्र शर्मा का 'तत्काल' हमारे सामने है। 'तत्काल' में सत्रह कविताएँ संकलित हैं। 'मलबों में नहीं पहचानी जाती है एक दिन में···अपनी जमीन।' अब वे अपनी ज़मीन पहचान गये से लगते हैं। कसी हुई है मेरी ऊँचाई, वापस लौटने वाला है युद्ध, कॉमरेड गैंडा से एलिस की बहस, खोजा है अपना अक्स मार्जार ! इन कविताओं में विष्णुचन्द्र के कवि को पहचाना जा सकता है। राजनीति से लेखकर सामाजिकता की जमीन को पहचान इस कवि को है। अपनी उसी पहचान के लिये विष्णुचन्द्र शर्मा प्रगतिशील तबके से ज्यादा दूसरे तबके में चर्चित रहे हैं।···वार्तालापों में ही। यों विष्णुचन्द्र शर्मा किसी भी नैतिक लड़ाई में आप का साथ नहीं दे सकते। ··चारा देखते ही खिसक जायेंगे।···स्थानाभाव के कारण एक वाक़या का हम जिक्र नहीं कर पा रहे हैं।

'आपातकाल' के बाद पत्रिकाएँ निकलने लगी हैं—जोशो खरोश के साथ। उनमें प्रकाशित कविताएँ निश्चय ही यह साबित कर रही हैं कि आज की कविता, नये-नये प्रतीकों, बिम्बों, से कथ्य की सम्प्रेषणीयता और भाषा के नुकीलेपन से, वस्तुगत तथ्यों से पूर्ण यौवन के आँगन में पहुँच कर देख रही है कि सूर्य ठीक उसके सिर के ऊपर है। यहाँ यह कह देना बहुत जायज़ लगता है कि मार्क्सवादी आलोचकों का शुद्ध मार्क्सवादी नज़रिये से साहित्य एवं काव्य को देखना घातक होगा। आज का आदमी सदियों का सफ़र तै कर आज जहाँ पहुँचा है और अपनी न्याय संगत इच्छाओं की पूर्ति के लिये हर मोर्चे पर खड़ा जुझारू हो रहा है, आज की कविता भी वहीं पर है। जुझारू आदमी के साथ छाया की तरह लगी हुई है। कविता की आन्तरिक निजता पर मार्क्सवादी अंकुश न लगाया जाय ! मनुष्य की आन्तरिक निजता को व्यक्तिवाद से अलग समझा जाय। मार्क्सवाद की कुछ सीढ़ियों पर जब आज की कविता पहुँच जाय, तब उसे परिपक्व बनाने की बात सोची जाय। अपनी 'मिट्टी की गंध' को देखते हुए मार्क्सवाद को अपनाया जाय। हिमालय और गंगा की आध्यात्मिकता को मद्दे नज़र रखते हुए। यह आज का आदमी बोल रहा है। हो सकता है कि कल का आदमी हिमालय को न पहचान पाये, गंगा को सिर्फ़ अपने खेतों तक ही समझ पाये ! यह देश बड़ा विलक्षण है। यहाँ का बाशिन्दा

तो और भी विलक्षण है। कहो—जिस देश को दूसरी जातियों ने घोड़ों के खुरों से रौंदा हो, फिर भी वह समुन्नत खड़ा रह गया हो, वहाँ किसी दर्शन को पैर जमाने में सतत् लगन एवं विनम्रतापूर्वक आना होगा। उसके तमाम ताम-झामों को स्वीकार्य करते हुये। आशा है, आलोचक इस कथन पर ध्यान देंगे। खास कर 'घूमिल' की कविताओं के संदर्भ में आलोचक श्री नवलकिशोर नवल।

अब हमारे सामने 'पश्यन्ती' का वर्षा-अंक १९७७ है। 'पश्यन्ती' को 'धर्म-युग' के 'लघुपत्रिका-परिचर्चा' में प्रथम स्थान दिया गया था। उसके तुरत ही बाद 'पहल' ने एक भरपूर चुटकी ली थी कि यह लिजलिजी पत्रिका है। हमारा भी यही ख्याल था। ··लिहाजा दोनों रहस्यवादी कवि सम्पादकों को यकायक न जाने किस दिन सपने में 'मार्क्स' ने दर्शन दे दिया। परिणामतः 'मार्क्स अंक' 'पश्यन्ती' का निकला। इस अंक पर लगता है 'आपातकाल' की नज़र पड़ गई। और 'मार्क्स' का जोश कुछ ठण्डा पड़ गया है। वर्षा-अंक में नरेन्द्र जैन की कविता 'सपनों की चार कविताएँ' में कवि सपने में महल नहीं देखता, इसलिये महल का ख्याल नहीं करता। सपने में कभी बादशाह नहीं हुआ, इसलिये उसे गुलामों का ख्याल नहीं आता कि किसी को गुलाम बनाया जाय। सपने में तानाशाह भी वह नहीं बना कि फौज का उसे ख्याल आता। उसे सपने में 'भूख' के दर्शन होते हैं और वह रोटियों से भरे हुए पेड़ देखता है। एक औरत का बेबाक जिस्म देखता है, लगातार नदी में बहते हुए! दुनिया के ये सपने चलती हुई लड़ाई में हिस्सा ले रहे हैं।···

इसी अंक में शलभ श्रीराम सिंह की दो कविताएँ हैं। 'पहल कदमी' और 'अब्बाराग'। 'पहलकदमी' में पाँच खण्ड हैं। दो खण्ड, आज की कविता की रीढ़ को मजबूत करते हैं। शलभ, कथ्य को कविता में ढालने की कला में माहिर कवि है, उसका कोई शानी नहीं। दूसरी कविता 'अब्बाराग' पढ़ने पर हम बहुत देर तक हँसते रहे थे। यह शलभ ही है जो 'अब्बाराग' को लिख सकता है।

—मातादिनवा अपने बेटे की छाती पर बैठा गुस्से में उसके थोबड़े पर थप्पड़ों की बौछार कर रहा है·और गा ['कह' नहीं] रहा है—

समझ जायगा उस दिन ससाले !
जिस दिन शलभ की कविता की तरह पढ़ा जायगा !
सुना है—

वह हरामज़ादा कविता में ढल रहा था,
कवियों की भाषा बदल रहा था,
अपनी ही बनाई हुई राह पर चल रहा था,
बीवी चीथड़ों की नुमाइश बन गई थी,
बेटियाँ कविता से होने वाली क्रान्ति की तरह
जवान हो रही थीं,
खुद स्साला बाढ़ के पानी की तरह
समुद्र के पेट में चला गया
बादल बनने के लिये
कपास की खेती सींचने का सपना लेकर
चीथड़ों की नुमाइश को
औरत में बदलने की तैयारी में···
....

और तू
तू तो स्साला गद्य का एक टुकड़ा भी नहीं बन सका
कि कोई झूठ भी तेरे सहारे खड़ा हो पाता !

'कविता से होने वाली 'क्रन्ति' शलभ कर सकता है। शलभ तो ईश्वर को भी क्रान्तिकारी बना सकता है।

नाटककारों में मणिमधुकर और कवियों में शलभ दोनों बराबर हैं—आत्म प्रचार करने की कला में। रस-गंदर्भ [नाटक] में उसके तीन पात्र मंच पर 'मणि मधुकर' का दसियों बार नाम लेते हैं। दर्शकों के कानों में बार-बार 'मणि मधुकर' को ठूँसा जाता है और यहाँ तो शलभ कवियों की भाषा ही बदल रहा है। और अपनी ही बनाई हुई राह 'युयुत्सावाद' पर चल रहा है। गद्य के एक टुकड़े में अथवा दस-बारह टुकड़ों में झूठ को सहारा मिल जाता है कि वह खड़ा हो सके। यानी 'पद्य-छवियों' में झूठ के खड़े होने की कोई गुंजाइश नहीं है। इस झूठ की तो क़तई गुंजाइश नहीं है कि—

'कवियों की भाषा बदल रहा था।'

'पहलकदमी' कविता में, कविता की खोज में गद्य के पठार पर भटक रहे कवियों को शलभ चेतावनी देता है :

दो कदम और चलो
रोटी का भूगोल शुरू होने वाला है
शुरू होने वाली है उस प्रदेश की सीमा,

जहाँ यथार्थ की पद्य-छवियाँ
जीवित रहने की प्रेरणा देती हैं
देती हैं गीत रचने और गाने की ललक
आगे बढ़ो
तुम्हारा रास्ता सच्चाई से पड़ने वाला है।···[पद्य-छवियों में यथार्थ कहाँ तक मिलता है ?]

जिन कवियों ने गीत-नवगीत एवं लय राग को कविता से खारिज करने की पहल की थी और विद्रोही मुद्रा में सपाट बयानी को रबड़-छन्द में तरजीह दी थी, वे आज मन पर पत्थर मारे सुस्ता रहे हैं। वे रबड़-छन्द की ज़मीन से भी खिसक गये हैं। 'पहल कदमी' कविता का दूसरा खण्ड पूंजीवाद के टट्टुओं पर है; जिसकी पैनी धार माहौल बनाती है। यहाँ शलभ की चुनौती समष्टि का रूप लेती है!···

'पश्यन्ती' में स्व० राजकमल चौधरी की पाँच कविताएँ हैं। चूँकि इन कविताओं का व्याकरण 'किसी प्रेमिका, के इर्द-गिर्द भटक रहा है; उसकी व्याख्या वह प्रेमिका ही करे, हम प्रेम के मामले में ठण्डे हो गये हैं।···फिर भी अतीत में कुछ क्षण जीते हुये हम इन्हें पसन्द कर लेते हैं।...'पश्यन्ती' की सम्पादिका की कविता 'पवित्र भोजन की कसम' दुनिया में गुरिल्ला छापामार लड़ाई की ज़रूरत महसूस कराती है। विश्व-स्तर पर 'चे गुवेरा' के अनुयायी युद्ध रत हैं। उनका लक्ष्य किसी एक देश की सत्ता को उलटने का नहीं होता; बल्कि पूँजीवाद की चक्की में पिसती हुई मानवता का उद्धार करना होता है; इसलिये वे पवित्र भोजन करते हुये, पवित्र भोजन की कसम जारी रखते हैं, रंग, रोशनी और पके हुए अन्न की खातिर। कविता अपनी विनम्र सादगी में उत्कृष्ट है।

'उत्तरार्द्ध' का सोलहवाँ अंक। ज्ञानेन्द्रपति की 'कुछ कविताएँ'। कुबेरदत्त की 'खूनी शिला लेखों के विरुद्ध' और नरेन्द्र जैन की 'रचना-प्रक्रिया' कविताएँ पठनीय एवं उल्लेखनीय हैं।

साक्षात्कार' का सि०—नव० १९७७। अजामिल की कविता 'शक्ल' भूत-वर्तमान एवं भविष्य की पहचान कराती है। वर्तमान, भविष्य के प्रति आशावान है। सामाजिक-आर्थिक स्थितियों में बदलाव एवं 'जीवन' के प्रति पूरा यकीन मिलता है।

असद ज़ैदी की कविता 'बहनें' पठनीय-संग्रहणीय दोनों हैं।

'निष्कर्ष'—५ में रामदरश मिश्र, शरद, देवेन्द्र कुमार आर्य की कविताएँ

'आपातकाल' के काले परदे को चीरती-फाड़ती हैं। विनम्रता एवं तेवर के साथ।...

डॉ० धर्मवीर भारती की कविता 'मुनादी' की तरह सन् १९७७ की श्रेष्ठ कविता 'विपाशा' है। 'विपाशा' आपतकाल में लिखी गई और 'पहल' में प्रकाशित हुई है।

अब हम प्रस्तुत हैं इन प्रकाशित कविताओं पर अपना दो टूक मत प्रकट करने के लिए। जिन कविताओं पर सहयोगी सम्पादक श्री राजीव सक्सेना ने अपना मत प्रकट नहीं किया, वे उन तक नहीं पहुँच पाईं। वे कविताएँ, राजीव जी के लेख लिख लेने के बाद हमारे पास आईं थीं। बलदेव वंशी की व्यस्तता के कारण प्रकाशित कविताएँ उनकी नजर में नहीं आ पाईं। उनका लेख इस बात की साक्षी देता ही है।...

राजीव भाई ने कविताओं को Alphabeticaly System में रखा है!

राजीवजीने अपनी सम्पादकीय में जिन कविताओं को चर्चा की है, हम उससे सहमत हैं। शेष कविताओं पर हम अपनी सनीचरीय दृष्टि से उन पर विचार करेंगे। यथा—

'किशोर वासवानी' की दो कविताएँ हैं: १. कागज और आकाश, २. सत्य।

कागज और आकाश का 'वह आम आदमी' क्रूरता के जनक को बासी नजरों से देखता था, बदबू भरी गाली देता था बदनाम शीर्षक सुनता था। क्रूरता ने उसकी बासी आँखों में, काले कांच के चूर्ण भर दिये, जुबान सुइयों से छेद दी। कानों में सीमेन्ट भर दी और उसकी घृणा को प्लास्टिक सर्जरी की हँसी में बदल डाला।...अचानक क्रूरता ने महसूस किया कि वह खाली हो गया है, इस खालीपन से घबड़ा कर फिर वह कागज हो गया।...

वह आम आदमी उसे भरा हुआ मिला और उसने देखा कि वह पूरा आकाश हो गया है।...दूसरी कविता में सत्ता और उसकी व्यवस्था के ढकने एवं बिखराव में आम अदमी की भूमिका को महत्वपूर्ण मानते हुए कवि अपनी साफ दृष्टि को प्रकट करता है।...नये प्रतीकों द्वारा कथ्य की सम्प्रेषणोयता ठोस सपाट बयानी में प्रकट करने की कला देखी जा सकती है।...

सारे फूहड़ फैशनों से बचते हुए 'कृष्ण कमलेश' ने कविताएँ लिखी हैं। तीनों कविताओं में सच के बजाय 'झूठ' का फैला साम्राज्य कवि को पीड़ाओं से भर देता है। समाज, नाजायज सच को सुनने का आदी हो गया है। कहीं भी सच बोलने पर चोट पाने के सिवा और कुछ नहीं मिलता। कवि को कहीं भी

बदलाव नज़र नहीं आता। व्यक्तिवाद की चरम सीमा के तहत किसी को किसी उदास व्यक्ति के प्रति कोई हमदर्दी नहीं। इन निराशाजनक स्थितियों के बावजूद एक अहसास ज़िन्दा रहता है कि—

लगँड़ा हूँ तो क्या, तेज दौड़ भी सकता हूँ;
दौड़ते रह सकता हूँ।···

'छविनाथ मिश्र' किसी समय गीतकार थे, इसलिये 'एक सदाबहार मरीज़ और चार नुस्खा नवीस' कविता की सपाटबयानी में भी तुकों की भरमार है, क्योंकि यह जन कविता है। मरीज़ 'ईश्वर' है। चार नुस्खानवीसों के माध्यम से सदा बहार मरीज़ को चार नुस्खे मिलते हैं। १. महान दार्शनिक २. महान वैज्ञानिक ३. यशस्वी राजपुरुष, ४. अद्वितीय विश्व-कवि की मुद्रा में वह उन्हें पढ़ता है।···

कविता का सर्जक कवि 'ईश्वर' सब में उपस्थित होता है। अपनी बेटी 'कविता' को समझाता है। दार्शनिक, वैज्ञानिक, राजपुरुष कवि को किस रूप में देखने के आदी हैं, देखने के लिये कविता पढ़ें।···इस 'जन कविता' को 'जन' बन कर ही पढ़ा जा सकता है। 'साधारण जन' को तुकों में लगाव होता है। थोड़ी देर के लिये 'साधारण जन' बन जाइये।···

श्री नागार्जुन की कविता 'बन्धु ···' में आप को उम्दा सटायर मिलेगा। एक नागार्जुन ही हैं, जो आगामी युवापीढ़ी के साथ भी कदम मिलाकर चलेंगे।

मजदूरों से लेकर बुद्धिजीवियों तक को एक साथ ही प्रभावित करने वाले नागार्जुन 'कबीर' के बाद कबीर की परम्परा से बहुत आगे निकल आये हुये 'युग-कवि' हैं। कलकत्ते के युवा कवि 'नवल' की कविताओं से हम परिचित हैं। काव्य-क्षेत्र में इनके योगदान 'अप्रस्तुत' 'महानगर' को सर्वत्र सराहा गया है। अभी ये मार्क्सवादी विचारधारा को चुर-छिप कर ग्रहण करते हैं, ताकि 'कविताओं' में फैशनपरस्त कवियों की कविताओं की तरह 'मार्क्स का डण्डा' न दिखाई पड़े। मानवता के लिये, जन-जन की संघर्षशील प्रगतिकामी चेतना के ये हिमायती हैं।

अभी तो शुरूआत भी नहो हुई मेरे प्यार की,
न कविता की
न दम तोड़ने वाले इन्तजार की···

सिर्फ चार-पाँच कविताएँ लिखकर प्रसिद्धि पाने के आकांक्षी कलकत्ते के ज्यादातर कवियों के उस ढर्रे से अलग 'नवल' उस आकांक्षा से मुक्त रहे हैं।

तमाम काव्यगत हाहाकारों से अलग 'नवल' की इन तीनों कविताओं की

पहचान अलग खड़ी होती हुई मिलती है।...

'सुश्री पुष्पलता कश्यप' परिचित हस्ताक्षर हैं। उनके आत्मकथ्य पर ध्यान दें फिर उनकी कविताएँ पढ़ें। समानता मिलेगी।

"कितने मजे की बात है,
उस भविष्य ने अपना सिर झुका दिया
हमें परिशिष्ट में डाल कर
जो मृत्यु से पूर्व हमारी प्रतीक्षा किया करता था।"

यहाँ हमें प० बंगाल में (शायद बीसवीं सदी की शुरुआत में) घटी विश्व प्रसिद्ध एवं घटना की याद ताजा हो आई है, जो इस प्रकार है :

प० बंगाल के एक जिले के एक युवा जमींदार को उसकी पत्नी और साले ने मिल कर सम्पत्ति को हड़पने के उद्देश्य से, युवा जमींदार 'भुआल'...को जहर दे दिया। उसके भविष्य ने सिर झुका लिया और उसे श्मशान के द्वार पर रातों रात पहुँचा दिया गया। चिता में आग भी दे दी गई। चिता से जब अग्नि की लौ उठी, तभी मूसलाधार वृष्टि शुरू हो गई। श्मशान घाट से लोग वृष्टि से बचने के लिये भाग खड़े हुए।...

अब वहाँ कोई नहीं था। काफी रात गये वृष्टि के थमने पर श्मशान से कराहने की आवाज उठी और उठती चली गई।...थोड़ी ही दूरी पर दो सन्यासियों की एक कुटी थी। झाड़-फूस की। उन्हें वह आवाज सुनाई पड़ने लगी। जब उन्हें यकीन हो गया कि यह आवाज श्मशान घाट से उठ रही है तो वे दौड़ पड़े।

चिता की लकड़ियों को हटा कर एक अर्द्ध जीवित आग में झुलसे हुए मनुष्य को उन्होंने बाहर निकाला और कन्धों पर लाद कर कुटी के अन्दर उसे वे ले आये।

कुछ दिनों की सेवा से 'भुआल' ठीक तो हो गया; लेकिन उसकी स्मृति जाती रही। चेतनाशून्य 'भुआल' को लेकर दोनों संन्यासी दूर देश में निकल गये।

दस वर्ष बाद, दोनों संन्यासियों के साथ 'भुआल' अपने क्षेत्र में आकर एक कुटी में रहने लगा। दोनों संन्यासी 'भुआल' को साथ लेकर गाँवों में घूमने लगे। अचानक एक दिन 'भुआल' एक महल के सामने ठिठक कर खड़ा हो गया। संन्यासी भी खड़े हो गये।

'भुआल' की चेतना लौटने लगी थी। जब उसने सबकुछ पहचान लिया, तब संन्यासियों ने एक वकील के जरिये कलकत्ता हाई कोर्ट की शरण ली।

केस चला। न्यायमूर्ति के सामने उसने अपनी पत्नी को पहचाना, साले को पहचाना, अपनी बन्दूक को पहचाना। उन सब चीजों को उसने पहचानना शुरू किया जो उसकी अपने इस्तेमाल की थीं।

न्यायमूर्ति ने उसकी पत्नी एवं साले को सजा दी। 'भुआल' को उसकी जमींदारी, सम्पति का मालिक करार दिया।...यह केस 'भुआल संन्यासी' के नाम से प्रसिद्ध है।...

हम परिशिष्ट से उवरने की शक्ति जुटायें और भविष्य को अपनी मुट्ठियों में कसें। निरन्तर संघर्ष से ही निखार पैदा होता है।

भगीरथ स्वयं मजदूरों के साथ हड़ताल में जूझते रहने वाले कवि हैं। इसके कवि की अनुभूति वर्ग संघर्ष से जुड़ी हुई है।

"संघर्ष से कटते हुए। बचते हुए
निम्न पूँजीवादी मनोवृति के शिकार
मेरे साथी।
पर्चे लिखने से या कविता करने से
या बीड़ी पीते हुए बहस करने से
अतिक्रान्तिकारी घोषणाओं की दुदुंभी से
क्रान्ति की भूमिका नहीं बनाई जाती...''

तमाम कवियों के लिए यह एक चुनौती है। मुखोषों पर खरोंच लगा दी गई है। आप अपना असली चेहरा इस दर्पण में देखें और उसे पढ़ें।...

मणि मधुकर कहानियों एवं नाटकों से बहुचर्चित रहे हैं। इनके व्यंग्य का नश्तर इतना तेज़ होता है कि इनके नाटक 'रस-गंधर्व' पर पाबन्दी लगा दी गई थी। हम मणि मधुकर को कहानीकारों एवं नाटककारों में श्रेठमानते आये हैं। इनकी कविताओं में हमें वह श्रेष्ठता नहीं मिली, जिसकी अपेक्षा थी। 'खण्ड खण्ढ पाखण्ड पर्व' की निराशा के बाद इन्होंने अपने कवि को उस अग्नि के सम्मुख रखा, जिसे किसी एक ने इस पृथ्वी पर एक ही बार जलाया था और वह एक पल के लिये भी आज तक नहीं बुझी।...इधर की कविताओं में मणि मधुकर को हमने जिन्दगी को छूते हुए, जूझते हुए पाया है। उनकी तीन कविताएँ इस बात की गवाही भले ही न दें; लेकिन यह सोच कम नहीं है:

सोचना तो जरूरी है
पर सिर्फ वही काफ़ी नहीं है जबकि जड़ें
दल दल में नष्ट हो रही हैं
गल रही हैं पाँवों की अँगुलियाँ

अन्त में—

वह 'कुछ और' क्या है
तुम्हारे भीतर जन्म ले चुका है और तुम
उसकी औक़ात को जानते हो !

'नैन सुखलाल' शीर्षक कविता अपनी बेलौस रवानगी की छाप छोड़ती है। खाली चेहरा, शब्दों के जनाजे जैसा ही होता है। नैनसुखलाल तब तक परदे के पीछे बैठा शहर को शिकंजे में कसता, नीबू की तरह निचोड़ता, फेंकता, रेंकता-हँसता रहेगा खिर्र-खिर्र जब तक खाली चेहरों, मृतप्राय शब्दों में 'पाञ्चजन्य' नहीं फूंका जाता। प्रगतिकामी शक्तियाँ शंखनाद तो कर रही हैं और अब श्री प्रमोददास गुप्ता 'पाञ्चजन्य' हाथों में ले चुके हैं। आम आदमी की शक्ति इस पाञ्चजन्य में समाहित हो रही है···दिन पर दिन ! देखना यह है कि नैनसुख-लाल [पूँजीवादी] तब परदे के पीछे से बाहर आते हैं या नहीं ? नहीं आयें तो कविता का दुर्भाग्य ! देश की अधोगति !! [थोड़े समय के लिये]

ममता कालिया की कविता 'वसन्त' हिन्दी में संभवतः पहली वह कविता है, जिनमें 'वसन्त' गुणगान आप को नहीं मिलेंगे। 'वसन्त' में भी अब पहले जैसी मस्ती नहीं है। सरसों के फूलों के रंग भी हल्के हो गये। गाजर भी स्वाद-हीन है। समय का चक्र' मौसम पर सबसे पहले घूमता है। इसे ममता कालिया के अतिरिक्त यथार्थवादी, जनवादी कवियों में किसी ने भी नहीं महसूसा। 'सनी-चर' के मंच से 'वसन्त' का भी 'इक्सपोज' हो गया, इसके लिये हम ममता कालिया को बधाई देते हैं !···

मणिका मोहिनी—ने अपने आत्मकथ्य में लिखा है :···'लिखना मेरे लिए अनिवार्य है, उससे भी अधिक आवश्यक समझती हूँ, जिन्दगी को खूबसूरती के साथ जीना—आधुनिक महिलाएँ ऐसा ही सोचती हैं; जबकि जिन्दगी वीभत्स हो गई है। जिन्दगी में खूबसूरती धन्ना सेठों को छोड़ कर और किसे नसीब है ? या वह खूबसूरती स्थापित हो गये लोगों के अलावा और कहीं तो दृष्टिगोचर नहीं होती ?—मात्र बोरियत, कुंठा, विषाद, जड़ता घुटन आदि को आधुनिक मूल्य बना कर प्रस्तुत करने वाला साहित्य मुझे बदबू फेंकता प्रतीत होता है, इन सबसे मुक्ति का रास्ता जो न खोज सके वह कैसा साहित्य है ?···'

इन सब से मुक्ति का वह कोन-सा रास्ता हो सकता है ? यही न, कि व्यक्ति-गत घुटन, कुंठा, बोरियत आदि को साहित्य एवं काव्य की ज़मीन पर न फैलाया जाय ! लेकिन जब ये तत्व समाज में, तमाम बुद्धिजीवियों में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हों, तब क्या ये तत्व 'व्यक्तिगत तत्व' के रूप में रह जाते हैं। आज

संघर्षशील वर्ग में इनसे जो खाली हों, उन्हें हम 'अभागे हैं' के सिवा कुछ नहीं कह सकते !...मोहिनीजी ने अपनी तीनों कविताओं में उन्हीं तत्वों को पिरोया है और आधुनिक मूल्य बना कर पेश किया है। हम चाहते तो उपरोक्त पंक्तियाँ 'आत्मकथ्य' से हटा सकते थे। किन्तु हमने ऐसा नहीं किया। क्यों ?

क्योंकि उन्हीं तत्वों की ज़मीन पर तीनों कविताएँ न केवल 'जीवन्त' हो उठी हैं, बल्कि व्यक्तिगत सम्बन्धों [जो वास्तव में समाज में आजकल बहुतायत से मिलने लगा है] के टूटते आकार को मूर्त रूप गया दिया है। तीनों कविताएँ पढ़ने के बाद हम साँस खींच कर मौन हो गये। लगा, बहुत दिनों बाद किसी ने 'प्रेम एवं उसकी असफलता' पर मन-बुद्धि एवं हृदय को बींध देने वाली तीन कविताएँ रची हैं, जो आधुनिक जीवन की विनाशकारी लीलाओं में प्रमुख स्थान ग्रहण करती हैं। दुनिया का नाना व्यापार 'स्त्री' के लिये ही होता आया है। स्त्री न होती तो कुछ भी न होता, बल्कि यह दुनिया बिना औरत के अगर बढ़ती तो समलैंगिकता के तहत नर्क बन गई होती ! इसलिये नारी की आँखों के गर्म आँसू एवं उसकी करुणा को साहित्य एवं काव्य में बिलावजह प्रमुखता नहीं दी गई है ! नारी का विलाप 'समाधि' को भंग कर देता है। नारी का झूठ व फ़रेब राष्ट्र तक को पंगु बना देता है।

मोहिनीजी की ये कविताएँ वह तीखी गन्ध फेंकती हैं, जिससे समाज का चारित्रिक विकास होता है ! ..जीने की ललक के तहत ही—

'मेरा मरना किस कदर बेअसर
मुझमें से गुजर जाता है।'

●

गुजर जाय जो, जिन्दगी है वो
रुक गये तो मौत मान लो।
इश्क का तीर है, बड़ा बेपीर है,
लग जाय तो जिगर थाम लो ॥

●

मालती शर्मा के लेखन से हम बहुत दिनों से [सात वर्ष] परिचित हैं। कविता एवं समीक्षात्मक दो टूक टिप्पणियों के लिये हम मालतीजी को समकालीन भाषा एवं सही सूझ-बूझ के लिये आदर देते रहे हैं। उनके सहयोग से 'सनीचर' की पैनी धार को बल मिलता रहा है।...

उनका कहना कि 'जिजीविषा की टकराहट जो यथास्थिति को यदि बुलडोजर की तरह मिटा नहीं देती तो कोई बुलडोजर ले आने की तीव्र चेतना तो

जगा देती है' जनता में वह तीव्र चेतना आती जा रही है।

'अन्त में' कविता में किन्हीं उद्देश्य के लिये संगठित लोगों में चार कदम चलने के बाद व्यक्तिवाद की खाई उभरती है तो कार्यवाही को 'कल' पर टाल दिया जाता है फिर वह कल कभी नहीं आता और 'उद्देश्य' धरा का धरा रह जाता है। ट्रेड युनियनों, पंचवर्षीय योजनाओं में व्यक्तिगत स्वार्थों के तहत उद्देश्य को कार्य रूप में परिणित नहीं किया गया।...नगर के रंगमंच की मरणासन्न आत्मा को जीवित करने के लिये नगर के कलाजीवी इकट्ठे हो कर भी 'अमृत-श्रवा' फूल को कूर्मांचल की घाटी से नहीं ला सके, जो कई दशक बाद खिला था। 'कविता' में कला का क्या रूप होता है, 'अन्त में' शीर्षक कविता में देखा जा सकता है। घिरावदार रोटियाँ, अलग-अलग तरह की भूखें, फूट लिये अलग-अलग दिशाओं में, इन तीन प्रतीकात्मक टुकड़ों का प्रयोग इंगित करता है कि कविता की बात अपने संग प्रतीकार्थ भी खोलती चलती है। जैसे : 'विपाशा'।

योगेन्द्र किसलय का 'आत्मकथ्य' आप को प्रभावित करेगा। 'क्या हुआ जो कविता इस समय प्रबुद्ध सुकरात की तरह ज़हर पी रही है।' 'कविता' शीर्षक कविता में लेखक की रीढ़ की हड्डियों को पूँजीवादी पत्र-पत्रिकाएँ सस्वाद चूस रही हैं। नेता सहयोगी है। उदाहरण दिये जाने के लिये, लेखकों का मुँह बन्द करने के लिये राधाकृष्णनन् को राष्ट्रपति बनाया गया था [यह एकदम अछूता कथ्य है] !...कविता में व्यक्त वस्तुस्थिति पर कवि शोक में उद्विग्न हो जाता है। उसकी आँखों में कुछ देर के लिये अँधेरा छा जाता है। उसी अँधेरे में वह मान लेता है कि वह खुद अपना शत्रु हो गया है। ..अँधेरा हटते ही सूखी हुई लेखनी की नोक को वह कण्ठ के पास ले आ कर ठिठक जाता है।

'संसद से शायद कोई बिल पास हो जाये,
कि लोग लेखकों की हड्डियों को
आइन्दा न चूसें।'

रामदेव आचार्य के 'आत्मकथ्य' के साथ उनकी एक ग़जल और दो कविताएँ प्रकाशित हैं। ग़जल एवं कविताएँ इतनी स्पष्ट हैं कि उनकी सहजता में उभरी उत्कृष्टता, रामदेव आचार्य को एक ऊँचा कलाकार बना देती है।

वीरेन्द्रकुमार जैन जातीय स्मृति के कवि-उपन्यासकार हैं। हिन्दी में दो ही एक लोग तो हैं, जो पुरानी और नई दुनिया को बाँधे हुये हैं। अलख जगाये हुए हैं। यों वीरेन्द्र जी ने छिट-पुट समकालीन कविता-धारा में कविताएँ लिखी हैं, जिनकी उत्कृष्टता पर कोई अँगुलि नहीं उठा सकता। 'अध्यात्म' से सम्बन्धित हमारा व वीरेन्द्रजी का पत्र-व्यवहार हुआ है। हमने उन्हें समकालीन

काव्य धारा के साथ चलने के लिये कभी कहा था। उन्होंने इस धारा में भी आकर हमें चकित कर दिया।...अध्यात्म एवं योग न पूँजीवाद से सम्बन्धित है, न मार्क्सवाद से। हठ योगी श्रीराजबली मिश्र ने १३ नवम्बर १९७७ को प्रयाग में श्री एडसन हेलारी की २०० हार्स पावर की स्टीमर को अपने हठ योग से पाँच मिनट के लिये आगे बढ़ने से रोक दिया था। उनके हठयोग में यह तो साधारण-सी बात है। 'अध्यात्म' के लिये दक्षिणभारत के एक तपस्वी १५ वर्ष से समाधि लगाये हुए हैं। केवल हवा ही खाने-पीने की जगह काम दे रही है। दिनकर जी इनके दर्शन कर कृतार्थ हुए थे और 'दिनकर डायरी' में विधिवत उस तपस्वी की चर्चा है।...'धर्म' यदि पत्थरों की पूजा करना, देवालयों के घण्टे हिलाने को ही कहा जाय तो हम ऐसे धर्म से कोसों दूर हैं। यह साम्राज्यवाद, उसके परजीवी पूँजीवाद की देन है। वेद-पुराण, का प्रभाव रहा होगा, एक लम्बे काल तक, लेकिन श्रीकृष्ण ने धर्म एवं धर्मयुद्ध, रणनीति की जब से व्याख्या की है, वहीं से हमें एक नया आलोक मिला है। मार्क्सवाद उस आलोक को ग्रहण कर आगे बढ़ता गया है। वह आलोक यह है कि अन्यायी चाहे हमारा पूँजीपति भाई ही क्यों न हो, उससे युद्ध करना ही नये मनुष्य का धर्म है। उसके साथ युद्ध में फिर यह देखना कि अनीति से हमारी विजय हो रही है, यही पाप है।...संत्रास, घुटन का होआ खड़ा करने वाले कुछ मुखोशधारी विद्रोहियों ने अपढ़पन एवं अपने भ्रष्ट आचरण के तहत वीरेन्द्रजी की व्यक्तिगत आलोचना की थी।...वे कवि की प्रस्तुत तीन कविताओं का पाठ करें। अनीत और यथार्थ कितना जीवन्त हो उठा है।

दिवा पाण्डेय—हिन्दी और गुजराती में कविताएं लिखती हैं। किन्हीं दो भाषाओं में समान रूप से लिखने वालों की गणना दो अँगुलियों की रेखाओं से ज्यादा तो नहीं ही है। सुश्री दिवा पाण्डेय की तीनों कविताएँ इस बात की गवाह हैं कि 'समकालीन कविता' न केवल हिन्दी, अपितु बंगाली-गुजराती-मराठी-पंजाबी-मलयालमी-उड़िया भाषाओं में लगभग समानरूप से मनुष्य की तार-तार हुई जिन्दगी को, समय को, राजनीतिक विसंगति को एवं अभावग्रस्त आदमी के साहस और जिजीविषा को आत्मसात् करती अपनी ध्वज-पताका को उस स्थान पर फहरा रही है, जहाँ से 'एवरेस्ट' शिखर की चोटी साफ़ दीखने लगती है।...

'खून' कविता में आदमी अपने कफ़न का कपड़ा भी पूरा बन नहीं पाता कि कबीर के करघे पर ही उसका खून कर दिया जाता है। यानी ऐसी स्थिति पैदा कर दी जाती है, आदमी को अपने श्रम का उचित पारिश्रमिक न मिल सके।

'लटकता हुआ' कविता की इन पंक्तियों में—

'मैं भूल गई हूँ उन सबको
जो कल तक पलकों के बालों की तरह
आँखों से जुड़े थे।'

कितना अछूता प्रतीक है ! और इसका मर्म तो मर्माहित किये बिना नहीं रहता। 'इस दर्द को लेकर' कविता एक उत्तम रचना-कर्म से अभिभूत है।

'यह अँधेरा मुझे खा जाय
पीछा करती छायाएँ मुझे दबोच लें
इससे पहले
मैं अपने दर्द को काले बादल बनाऊँगी,
बादल गरजेंगे, टकरायेंगे,
कड़केगी बिजली
बरसेगी बिजली झोपड़ी पर
मैं भी जल जाऊँ शायद उसमें,
लेकिन जलने से पहले
मैं झोपड़ी से बाहर कूद पड़ूँगी—
एक बार छाती भर कर साँस लेने के लिए।'

यह दर्द और अँधेरा ही है जो किसी भी राष्ट्र की आम जनता को एकजुट करते हैं कि वे अँधेरे व दर्द से मुक्ति पाने का रास्ता ढूँढ़ें, भले ही उस रास्ते पर मौत खड़ी मिले।...क्या मौत मनुष्य की निडर साहसिकता को देख कर रास्ते से सरक कर ओट में नहीं छिप जाती ? भले ही पीछे से मौत के पंजे उसकी पीठ पर लग जायें।

शलभ श्रीरामसिंह—की 'ताड़ी क्षेत्र' पर चार कविताएँ हैं। हमारा दुर्भाग्य रहा कि हकीमों के चिरौरी बिनती पर भी हम अल सुबह ताड़ी पीने औराई के पास खमरिया के ताड़ के बगीचे में नहीं जा सके। इसकी महिमा बहुत सुन रहे हैं। लोग कहते हैं, इसका सेवन गर्मी के दिनों दो माह कर लें। स्वास्थ्य-बल पुरुरवा की तरह हो जायगा। लेकिन शलभ की कविता पढ़ कर तो हमारी रूह ही काँप गई है। यदि यह लग गई तो ! शलभ तो कवि अच्छा हो गया, उसका आदमी 'डाउन' हो गया। हम अपने आदमी को 'डाउन' नहीं करना चाहते, भले ही कुछ न हो पाये। किसी चीज का 'शौक' अच्छा हो सकता है किन्तु 'लत' नहीं। ताड़ी की लत में डूबी शलभ की ये कविताएँ न होकर 'सुमेरिया' की ताड़ी के नशे में बल खाती कमर है। कविता के नाम पर जो कुछ एक अरसे से होता रहा है, हमने यहाँ एक बानगी पेश की है। शलभ ने अपने आत्मकथ्य में

कविता के मुताल्लिक बात कुछ और कही है। कथनी और करनी का यह फ़र्क हर क्षेत्र में कोलतार की तरह पौंटा हुआ लग रहा है। ··

हृषीकेश की 'आपात' कविता विवादास्पद बनी हुई है। प्रबुद्ध पाठक इसका मंथन करें।···मंथन से जो कुछ भी निकले, कृपया सम्पादक तक पहुँचा दें। कविता की अन्तिम पंक्ति को कुछ खुलासा कर देने की हमारी राय को हृषीकेश जी ने कानपुर में रूबरू होने पर तरजीह दी थी। लेकिन गहन एकान्तिक क्षणों में श्री हृषीकेश का महर्षि पन शायद जाग खड़ा हुआ और उन्होंने 'भीष्म पितामह' की भांति उस पंक्ति की 'सत्यता' को अपने पास ही रख लिया। उसका उपयोग 'जनहित' में नहीं किया। अन्तिम पंक्ति ज्यों की त्यों लिख कर भेज दो। ·: सभी ने सबों के बीच अपने आप से कहा—'जो कुछ हो रहा है सब ठीक हो रहा है।'—सभी इतने दूरदर्शी तो नहीं ही हो सकते कि उन्हें भविष्य की पहचान हो ?

'आपातकाल' पर 'विपाशा' की तरह ही कुछ और कविताएँ प्रकाशित हुई थीं कुछ वर्ष-डेढ़ वर्ष से साहित्यिक पत्रिकाओं में स्वीकृत होकर अभी तक पड़ी हैं। प्रताप विद्यालंकार की एक उत्कृष्ट कविता 'पेड़ (बहुवचन)' लगता है एक और आपातकाल के बाद 'कल्पना' में प्रकाशित होगी।

अलख नारायण की कविता 'कृपा-मुक्ति, प्रभु को सम्बोधित है। सत्य असहनीय होता है। सत्ता की उच्चतम कुर्सी पर 'प्रभु' ही तो बैठा है, तीस साल से। 'बिटिया' उनतीस की हो गई, किन्तु वह बचपन की तरह जिस किसी गोद में सोलह के बाद भी जाती रही है। यह 'बिटिया' सब की है। जन-जन में आक्रोश है कि स्वतंत्रता के उनतीस वर्ष बाद भी 'स्वतंत्रता' का घर नहीं बस सका। गणतांत्रिक पद्धति में अब तक स्थिरता नहीं आ पाई। कवि कहता है :

> 'सच मानिए सर, वह कह रहा था' बिटिया सबकी है,,
> हम भारतीय हैं और सदियों से ऐसा मानते हैं
> जानते हैं प्रभु ! वह कह रहा था एक बहुत खतरनाक बात कि अब
> 'आप अपना भविष्य अधिक दिन न सम्भाल पायेंगे
> अपने नपुंसक पुत्रों और चमचों के साथ रसातल चले जायेंगे,
> बिटिया की दुर्दशा देख कर सबका दिल दहल गया है
> उनके मन से वहम और दहशत उठ गया है
> आप का नापाक इरादा उन्हें खल गया है

अपनी नग्नता को ढकने के लिए रोशनी पहनना बूर्जुआजी को आता है। जनता 'प्रभु' से अब अलविदा लेने की स्थिति में आ गई है।···

दूसरी कविता 'शताब्दी की स्वरलिपि' 'हे मेरी जन्म भूमि' को सम्बोधित कर कवि कहता है—

"हे मेरी जन्म भूमि
आज तुम्हारे शहर, ग्राम, नगर और जंगलों में
उठ रहा है हुंग्राम–संग्राम
अंजाम
के बारे में तुम्हारे पुत्र हैं निश्चित अनुदग्र
क्योंकि शताब्दी की स्वर लिपि नाच रही है झंझावात री तरंग में
तुम्हारे अंग प्रत्यंग में"

तीसरी कविता में सदियों से भाग्य का रोना और भाग्य सुधारने की प्रभु से प्रार्थनाएँ करने की रूढ़ि रीतियों को पूंजीवादी देश के कर्णधार जारी रखना चाहते हैं। स्तब्ध सत्य अनुत्तर हो खड़ा है ..। कब तक, आखिर कब तक खड़ा रहेगा?

ओम प्रकाश मेहरा की 'छाप' शीर्षक कविता आदमी के चारित्रिक पतन की छाप है। वनस्पति घी के टीन की तरह आदमी भी किसी न किसी ट्रेड मार्क से पहचान लिया जाता है।···'आजादी' कविता में जिस मंच से शक्तिशाली होने की बात नेताओं ने जनता को सम्बोधित कर कहा था, भीड़ के छंट जाने के बाद मंच, लाउडस्पीकर, बल्ब, शामियाना, सभी कुछ जहाँ का तहाँ पहुँच गया है। सभी माध्यम किराये के थे और किराये के माध्यमों द्वारा कोई वजनी बात कोई सही बात नहीं कही जाती! नेता झूठ बोलने के लिये ही जनता के बीच जाता है; क्योंकि झूठ के सिवा और उसके पास कुछ नहीं होता!

अंजना शर्मा की दो छोटी कविताएँ हैं। दोनों में सत्य का प्रकाश है।··· प्रकाश ही अनुभूति है।

हम, कवि बन्धुओं, सहयोगी सम्पादकों एवं चित्रकार बन्धु के आभारी हैं, जिनके सहयोग से और हमारे निरन्तर १३ महीने के बौद्धिक एवं शारीरिक श्रम से समकालीन कविता का यह बृहत् रूपाकार आपके हाथों पहुँच सका।

—ललित
सम्पादक.

कविता; सुरंग के पार □ राजीव सक्सेना

एक उन्नीस महीनें लम्बी सुरंग के पार हम लोग निकल आये हैं। इतिहास में उन्नीस महीने बहुत कम होते हैं, मगर एक मनुष्य के जीवन में बहुत अधिक। हमारे साहित्यकारों ने इसका बड़ा विशद अनुभव संजोया है जो उनके आगामी रचना-कर्म के लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा।

बहुत लोगों नें, विशेषकर राजनीतिक पर्यवेक्षकों ने, शिकायत की है कि इस काल में हिन्दी के साहित्यकर चुप रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी के साहित्यकारों को विशेषकर कवियों को अपने लेखन के कारण किसी शासकीय कोप का भाजन नहीं बनना पड़ा। जो लोग जेल में डाले गये, वे साहित्य कर्म के कारण नहीं, किसी कविता या कहानी के कारण नहीं, अपनी राजनीतिक गतिविधियों के कारण। और ऐसा लगभग हर भारतीय साहित्य में हुआ है।

साहित्यकारों को जेल में नहीं डाला गया तो इसका यह अर्थ नहीं कि वे अपने माध्यम से रचना के माध्यम से, लड़ नहीं रहे थे। 'उत्तरार्द्ध' के फासिस्ट-विरोधी अंक के विरुद्ध कोई सरकारी कार्यवाही नहीं हुई तो उससे यह सिद्ध नहीं होता कि 'उत्तरार्द्ध' के लेखक समूह ने लड़ाई में हिस्सा नहीं लिया। 'पहल' के एक लेख को लेकर कुछ लोगों ने (जिनके अगुआ श्री राजेन्द्र अवस्थी अब जनता पार्टी की जय बोल रहे हैं) मांग की कि नेहरू को बुर्जुआ कहने वाली और इन्दिरा गांधी तथा बीस सूत्रीय कार्यक्रम के गुणगान न गानेवाली 'पहल' पर पाबन्दी लगायी जाय और उसके कम्युनिस्ट सम्पादक को जेल में डाला जाय। (स्पष्ट ही, नजर थी एमरजेंसी के कम्यूनिस्ट-विरोधी मसीहा संजय गांधी को प्रसन्न करने की)। 'निकेत' में डा० विश्वम्भर उपाध्याय की तेज-तर्रार कविता छपी और डा० उपाध्याय या 'निकेत' सम्पादक के विरुद्ध दण्ड-विधान का इस्तेमाल नहीं किया गया तो इसमें इन साहित्यकारों का क्या दोष है? इस बीच नागार्जुन और सर्वेश्वरदयाल जैसे अनेक बड़े-छोटे साहित्यकारों के तेज-तर्रार, संस्थान-विरोधी कविता-संग्रह प्रकाशित हुए, मगर वे दमन के शिकार नहीं हुए (पाबन्दी लगी तो महेन्द्र भल्ला के एक उपन्यास पर जिससे किसी अधिकारी की महेन्द्र भल्ला से या उनके प्रकाशक से वैमनस्य या शत्रुता का या मूर्खता का पता चलता है, उपन्यास का क्रान्तिकारी होना प्रमाणित नहीं

होता। इसी तरह किसी व्यक्तिगत वैमनस्यवश पंजाबी में कर्नल नरेन्द्र सिंह के उपन्यास पर पाबन्दी लगायी गयी प्रतीत होती है।) इस स्थिति के दो कारण हो सकते हैं।

एक तो यह कि एमरजेंसी में सामान्यतः तब तक वामपंथी विचारों का दमन करने की नीति नहीं थी जब तक कि उनका सीधे-सीधे इन्दिरा गांधी या संजय गांधी पर 'हमला' करने के लिए उपयोग न किया गया हो (आगे चुनाव के बाद अगर संजय के हाथ में सत्ता आ जाती तो वामपंथियों पर व्यापक हमला होने की पूर्ण सम्भावना थी।)

दूसरा कारण अगर सच है तो साहित्यकारों के लिए अत्यन्त गम्भीरता-पूर्वक विचार करने योग्य है। वह यह कि शासक वर्ग यह समझता था कि साहित्य रचना की, विशेषकर कविता की, प्रभाव-सीमा बड़ी संकुचित है, इस लिए अगर किन्हीं बिम्ब या प्रतीकों के माध्यम से कुछ सत्ता-विरोधी बात कही भी गयी है तो वह नजरन्दाज करने योग्य है। क्या यही कारण है कि उपन्यासों और फिल्म की ओर तो सेंसर ने ध्यान दिया, कविता पर नहीं (उर्दू के मशहूर शायर श्री गुलाम रब्बानी तावां के ग़जलों के एक संग्रह में सेंसर ने कुछ शेरों पर आपत्ति प्रकट की, मगर प्रगतिशील लेखक संघ के विरोध-पत्र के बाद आपत्ति वापस ले ली गयी।)

जो हो, इस बीच यानी आपातकाल में हिन्दी के कवि चुप नहीं थे। वे उन करोड़ों लोगों के भ्रमों और क्रमिक भ्रमोन्मूलन तथा असन्तोष और प्रतिरोध भावना में हिस्सेदार थे जो राजनीतिक नेता नहीं हैं, स्थानीय पैमाने तक पर नहीं हैं और जो संघर्ष करने वालों के साथ अपनी सहानुभूति और समर्थन व्यक्त करने के लिए तत्पर थे। वे अगर चुप थे तो बलदेव वंशी के शब्दों में :

चिरते हुए देवदार की गंध को
आरे की भाषा में नहीं
मनुष्य होने की तमीज़ में पहचानते हुए
मैं जंगल में चुप हूँ

मनुष्य होने की तमीज या साधारण मेहनतकश होने के बोध के साथ आम जनता की चुप्पी, बकौल विजेन्द्र अनिल, 'सिर्फ एक सन्नाटा है। और ज्वालामुखी फूटने के पहले की चुप्पी।'

यहाँ यह देखना आवश्यक है कि एमरजेंसी जिस आन्दोलन के दमनार्थ लागू हुई, उसके विषय में बुद्धिजीवी वर्ग एकमत नहीं था—उसके मन में द्विविधा थी श्री जयप्रकाश नारायण के आन्दोलन के स्वरूप के विषय में, दो

कारणों से जिनकी अभिव्यक्ति रणजीत की दो कविताओं में व्यक्त हुई है :

(१) चुप्पी और चापलूसो के बीच बंट गया है पूरा देश
और मैं चुप्पी चुनता हूँ
....

अलग कर दिया जायगा मुझे अपनी नन्हीं सी बच्ची से
अपनी प्रिया से—वे रो-रोकर जान दे देंगी
और सबसे बड़ी बात
हो सकता है मुझे राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का ही सदस्य
घोषित कर दिया जाय।

सब कुछ उनके हाथ में है
न्याय और सत्य भी
इसलिए मैं चुप्पी चुनता हूँ।

(चुप्पी)

(२) उस (लड़ाई) पर दांव लगे हुए हैं दो व्यावसायिक घरानों के
(स्वार्थ)

कि मेरी हार एक की जीत है
और मेरी जीत दूसरे की जीत
....

आह, यह आशंका आराम से मरने भी तो नहीं देती
कि मेरी मौत का व्यापार करेंगे कुछ ऐसे लोग
जिन्हें मैं बिल्कुल नहीं चाहता, और मालामाल हो जायेंगे
हालांकि यह भी ठीक है
कि मेरे जीवित रहने का लाभ उठा रहे हैं
कुछ दूसरे लोग
और मैं चाहकर भी इसका कुछ नहीं कर पा रहा हूँ।

(मोहरे की यंत्रणा)

संघी विचारधारा के विरुद्ध बुद्धिजीवी श्रेणी अपनी वितृष्णा भाव में लगभग एक मत है। इसी प्रकार चूंकि श्री जयप्रकाश नारायण अयूब खां की तथा फिलिप्पींस के वर्तमान राष्ट्रपति मार्कोस की गाइडेड डेमोक्रेसी के प्रशंसक रहे हैं और बालिग मताधिकार के बजाय सिर्फ शिक्षित लोगों को वोट देने का हक देने तथा विधान सभाओं और संसद के चुनावों की वर्तमान पद्धति बदलकर अप्रत्यक्ष चुनाव पद्धति स्वीकार करने पर बल देते रहे हैं, इसलिए उनके प्रजा-

तंत्रीय होने के विषय में बुद्धिजीवियों को बड़े सन्देह रहे हैं। इसमें कोढ़ में खाज के समान यह हुआ कि जिस काल में जय प्रकाश जी ने जन आन्दोलन द्वारा सरकार का तख्ता पलटने का आवाहन किया उसी काल में अमरीकी साम्राज्य-वाद द्वारा कई देशों में सरकारों का तख्ता पलटने की और सी० आई० ए० की कारगुजारियों का लगातार पर्दाफाश होता रहा (कोई दिन ऐसा नहीं जाता था जब पश्चिम में कहीं न कहीं कोई सी० आई० ए० एजेन्ट ही इसका भंडा फोड़ न करता हो) जिससे बुद्धिजीवियों के मन में जय प्रकाश जी की नीयत के विषय में सदा सन्देह पैदा होता रहा। १४ अगस्त को बांगला देश में मुजीब की हत्या के बाद तो यह सन्देह और पुष्ट हो गया। यही कारण है कि बुद्धिजीवियों ने प्रारम्भ में आम तौर पर एमरजेंसी को स्वागत-योग्य घटना समझा, फिर चाहे उनके मन में उसकी सार्थकता के बारे में चाहे जितनी शंकाएँ रही हों। निस्संदेह, निरंकुश सत्ता स्थापित करने की कामना से प्रेरित शासकों ने एमर-जेंसी के लिए बुद्धिजीवी श्रेणी की इस स्थिति का लाभ उठाया। प्रारंभिक कुछ महीनों में स्थिति क्या थी, इसकी तस्वीर स्वयं श्री जयप्रकाश नारायण के शब्दों में (जैसी कि उन्हें अपने आन्दोलन के एक स्तम्भ श्री वी० एम० तारकुंडे से प्राप्त हुई) यह है: 'तारकुण्डे ने कल मुझे बताया कि श्रीमती गांधी के एक-तरफा प्रचार का अभी ही प्रभाव हो रहा है। उन्होंने पाया कि बम्बई में 'बुद्धि-जीवी' अभी ही अपने सिर हिला रहे हैं और कह रहे हैं; 'अब देखा, पहले से अधिक अनुशासन है और निश्चय ही विरोधी दलों ने अति कर दी थी।' तो बुद्धिजीवियों का विश्वासघात शुरू हो गया है। चूहे डूबते जहाज को छोड़ने लगे हैं।' (प्रिजन डायरी, २१ सितम्बर १९७५, पृष्ठ ७२)।

'चूहों' की कमी न तब थी और न अब है। मगर सभी बुद्धिजीवी 'चूहे' न थे; उनमें से अधिकांश संघी विचारधारा तथा स्वयं जयप्रकाश नारायण के विचारों से सहमत न होने के कारण—जो केवल इन्दिरा सरकार के प्रचार के कारण ही नहीं था—वे तटस्थ या चुप रह गये। इसमें २० सूत्रीय कार्यक्रम के लोकहित सम्बन्धी मुद्दों ने भी योगदान किया। मगर जैसे-जैसे यह स्पष्ट होता गया कि इंदिरा-संजय गुट के सदस्य केवल व्यक्तिगत सत्ता के लिए लड़ रहे हैं और फासिस्टी तौर-तरीकों पर उतर आये हैं। तथा २० सूत्रीय कार्यक्रम प्रगति-शील विचारधारा के लोगों को आँखों में धूल झोंकने का माध्यम मात्र ही है, वैसे-वैसे बुद्धिजीवियों का प्रतिरोध बढ़ने लगा। इस प्रतिरोध का प्रारम्भ श्याम नारायण की इन पंक्तियों में व्यक्त भ्रमोन्मूलक भाव से हुआ होगा :—

अंधे / आँख के लिए / रोते हैं / लेकिन वे / ज्यादा भाग्यवान होते

हैं। क्योंकि उन्हें। दिखाई नहीं पड़ता है वह। महिमा मण्डित षड्यंत्र। जो एक तिलिस्मी तंत्र के नाम पर। प्रजा को। पेर रहा है और। उसके पेट पर पांव जमा कर। समाजवाद की माला फेर रहा है। कितना खूँखार। और कितना खतरनाक है। मेमने की शक्लवाला। यह दोगला दृश्य। मोची के सूजे की तरह : दिमाग में गड़ता है। लेकिन देखने पर। मेमना दिखाई पड़ता है। ··

(खूँखार मेमना)

बलदेव वंशी के पहले उद्धृत किये गये कविता-खण्ड में जिस 'आरे की भाषा' के बिम्ब का उल्लेख है, उसने एक भिन्न रूप में मुझे किस यह उद्वेलित किया, इन पंक्तियों में देखा जा सकता है :

अजीव है वह ऊँचा पेड़। अपने घर के सामने। धूप से छाया देते-देते। उगलने लगा है अँधेरा। हर किरण निगलते हुए। और अगर इसकी जड़ें। गहरी होती चली गयी इसी तरह। तो खा जायेंगी इस की जड़ों को। अब तो यह पेड़ रहेगा या यह घर। और हम घर ही चुन सकते हैं। हर शाख पै बैठे उल्लू हमें क्षमा करें।···

(आरा खींचो)

आज तो यह स्पष्ट है कि चुप्पी का अर्थ चुप्पी नहीं था। अव्वल तो यह कि उसका अर्थ था कि चापलूसों की दुनिया में शामिल होने से इनकार कर दिया गया था। दूसरे यह कि चुप्पी के पर्दे के पीछे आम संघर्ष की तैयारी हो रही थी। इसलिए कहा जा सकता है :

इस डरे हुए सन्नाटे में। हमें चुप रहना है मगर। हमारा काँटेदार दर्द। वाहवाहों के बीच फैलता है अफवाहों सा। आरे की भाषा में। पेड़ कब तक हवा में झूमेगा।

(आरा खींचो)

डॉ० सुधा गुप्ता ने चुप्पी की शक्ति यों व्यक्त की है :

चूँकि तुम्हारे लिए मना था। उनके खिलाफ़ बोलना। चाहे वह संसद हो या आम सड़क। फिर भी वे तुम्हारी चुप्पी से ही। भयभीत रहने लगे थे। क्योंकि वे जानते थे। तुम्हारी चुप्पी में भी उतनी ही ताकत है। जितनी उनके हाथ में आये शासन तंत्र में

(खलिश आंखों में ही नहीं···)

[२]

प्रश्न उठता है कि कविता की भूमिका क्या स्वीकार की जाय? आज जो

लोग उन प्रचारमुखी 'क्रान्तिकारी' रचनाओं की बड़ी प्रशंसा कर रहे हैं, जिनका बिहार में या अन्यत्र जयप्रकाश जी के आंदोलन के प्रसार के लिए उपयोग किया गया, वे वही लोग हैं जो उससे पहले प्रगतिशील लेखकों, विशेषकर कम्युनिस्ट लेखकों, पर आरोप लगाते थे कि वे साहित्यकार नहीं, प्रचारक हैं, क्योंकि वे जन-अन्दोलन के लिए भी काफी-कुछ लिखा करते हैं। क्या उन्होंने साहित्य के बारे में अपनी राय बदल दी है ? नहीं, वे सिर्फ अपने मत के प्रचार को साहित्य कहेंगे और शेषको साहित्य की पांत से बहिष्कृत करने का प्रयत्न करते रहेंगे।

निस्सन्देह, आम लोगों को जगाने और प्रोत्साहित करने के लिए भी किन्हीं साहित्य-विधाओं का उपयोग करना पड़ेगा, विशेषकर गीत या नाटक का, और सम्भव है कि उनका स्तर प्रौढ़-साहित्य या लोक-साहित्य के स्तर तक रखना पड़े। ऐसी रचनाएँ यदि स्थानीय बोलियों में—अवधी, भोजपुरी, मगही आदि में—हों तो और भी प्रभावशाली हो सकती हैं। जैसे उत्कृष्ट साहित्यकार बच्चों के लिए रचनाएँ लिखने में आनन्द और गर्व महसूस करते हैं, उसी प्रकार वे उक्त कोटि की रचनाएँ लिखने में सन्तोष प्राप्त कर सकते हैं, विशेषकर यह सोचकर कि उन्होंने क्रान्तिकारी आन्दोलन के विकास में इस प्रकार योगदान किया।

मगर हम यहाँ कविता की बात कर रहे हैं और उस कविता की जिसको फिलहाल साहित्यकार या साहित्य-प्रेमी ही पढ़ते हैं। इस कविता की रचना-प्रक्रिया भिन्न सामाजिक स्थिति में रहने वाले कवि के लिए भिन्न है तो यह स्वाभाविक ही है। नरेन्द्र मोहन यह मानकर चलते हैं कि 'कविता कोई व्यक्तिगत चीज नहीं है' और विजेन्द्र अनिल यह घोषणा करते हैं कि कविता 'मेरे लिए एक आवश्यकता है। यह कहना सम्भव नहीं है कि कविता ने मुझे या उस समाज को जिसमें मैं रहता हूँ कितना बेहतर बनाया है; मगर यह तो बेहिचक कह सकता हूँ कि कविता ने मुझे जीवित रहने और लगातार संघर्ष करते रहने की प्रेरणा दी है। जब कभी मैं निराशा के समंदर में डूबने-उतराने लगता हूँ, कविता मेरा हाथ पकड़ती है'''और उसके बाद मैं तरोताज़ा हो जाता हूँ।' विजेन्द्र अनिल 'यह मानते हुए भी कि सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों में कविता का भी योगदान रहता है', यह गवारा नहीं करते कि 'कोई 'दृष्टिकोण' किसी रचनाकार पर इस कदर हावी हो जाय कि उसके वैयक्तिक सुख-दुख और जिंदगी के अन्य जीवंत अनुभव एकदम गौण हो जायें।' ये दोनों ही वक्तव्य एक-दूसरे के पूरक हैं। इनमें जो अंतर्विरोध दिखायी देता है, वह इसलिए कि नरेन्द्र मोहन उन मान्यताओं के विरोध में अपनी स्थापना दे रहे हैं जो कविता को नितान्त वैयक्तिक चीज़ मानते हैं और विजेन्द्र अनिल उन मान्यताओं के विरुद्ध जो तात्कालिक

सार्वजनिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक आन्दोलन विशेष (चाहे वह जयप्रकाशीय ही क्यों न हो) के हित में आदेश देकर रचना कराना चाहते हैं। इसलिए विजेन्द्र अनिल 'नारेबाजी और दलबंदी के लिए' या 'कुछ गढ़े हुए सूत्रों अथवा फार्मूले के सहारे' कविता लिखने का विरोध करते हैं।

विजेन्द्र अनिल के उपरोक्त उद्धरण में—'कोई 'दृष्टिकोण' किसी रचनाकार पर इस कदर हावी हो जाय'—'दृष्टिकोण' शब्द का उपयोग एक खास अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, इसीलिए शायद उसे इनवर्टेड कोमा के अन्दर रखा गया है। दृष्टिकोण से या जीवन-दर्शन से कोई कवि मुक्त नहीं हो सकता। और शायद इसीलिए विजेन्द्र अनिल ने कहा है 'नई जीवन-दृष्टि को वहन करने वाली रचनाओं की आवश्यकता है', मगर यह बात 'दृष्टिकोण' वाले उक्त वाक्यांश की विरोधी लगती है।

वस्तुत: साहित्य की सभी विधाओं में दृष्टिकोण का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। विषय-वस्तु के चुनाव में और फिर उसके प्रति अपने मनोभाव की अभिव्यक्ति के लिए बिम्ब-प्रतीक के चुनाव में यही दृष्टिकोण या विचार निर्णयकारी भूमिका अदा करता है। इसलिए यदि दृष्टिकोण पिछड़ा हुआ है, तो उसका प्रतिफल भी पिछड़ा हुआ ही होगा। इसीलिए आज का कवि इस मामले में 'स्वयं-स्फूर्ति' या 'इलहाम' के सिद्धान्त का अनुगमन नहीं कर सकता—उसे अपने दृष्टिकोण या विचारधारा के परिष्कार और पुनर्संस्कार की आवश्यकता स्वीकार करनी होती है ताकि वह दकियानूसी, रूढ़िपंथी विचारों के विरुद्ध प्रगतिशील दृष्टिकोण अपना सके।

दुर्भाग्य से आज दृष्टिकोण या विचार 'निर्दलीय' नहीं रह पाता। जय-प्रकाश जी के 'निर्दलीय' आन्दोलन की अन्तिम परिणति 'जनता पार्टी' में हो ही गयी है। इसलिए अगर कोई कविता आज की सामाजिक स्थिति पर कोई 'दृष्टि-कोण' व्यक्त करती है तो वह इस या उस पार्टी से जुड़ ही जाती है, फिर चाहे उसका रचनाकार स्वेच्छा से या किसी विवशता वश (सरकारी नौकरी या पूंजीपति के संस्थान से जुड़े होने के कारण) 'निर्दलीय' क्यों न हो। यहाँ तक कि जब हम यह भाव व्यक्त करना चाहते हैं कि सब पार्टियाँ, सरकारी या विरोध पक्षीय, भाड़ में जायें, हमें अपने सुख-दुख से ही मतलब रहेगा, तब सम्भव है, हम सरकारी पक्ष को बल पहुँचा रहे हों क्योंकि सरकारी पक्ष का स्वार्थ यही रहता है कि लोग राजनीति-हीन और विरोध-शून्य बने रहें।

हर पार्टी अपने को जनता के हित की विचारधारा से लैस घोषित

करती है। इसलिए साहित्यकार के लिए पार्टी नहीं, जनता के हित महत्वपूर्ण होते हैं। पार्टी और पार्टीबाजी में इसी कारण भेद करना आवश्यक है। हो सकता है, साहित्यकार किसी पार्टी का सदस्य हो—और जनतंत्र में यह अनिवार्य ही हो जायगा—तब अगर वह पार्टी के गुणगान ही गाता है या पार्टी के सदस्य मात्र होने के कारण किसी रचनाकार की सराहना करता है तो वह पार्टीबाज है, पार्टी की विचारधारा का पक्षधर साहित्यकार नहीं। इसलिए पार्टी का सदस्य होना एक बात है और पार्टीबाज़ी दूसरी बात—अक्सर निर्दलीय होने का ढोंग करनेवाले लोग काफ़ी शातिर पार्टीबाज़ होते हैं।

जनता के हितों की पक्षधरता का भी आज की स्थिति में एक विशेष अर्थ बन गया है। आज शोषक वर्गों के हितों की रक्षा भी जनता के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार की रक्षा के नाम पर की जाती है। एक 'जनता' शोषक वर्ग हैं और दूसरी जनता मेहनतकश श्रेणियाँ। इसलिए पार्टीबाज़ी त्यागने और जनता के हितों की पक्षधरता स्वीकार करने की माँग विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। वस्तुतः आज के समाज में असली प्रश्न है कि शोषक वर्गों का शासन बना रहेगा या उन्हें पदच्युत कर श्रमजीवी श्रेणियों की सत्ता स्थापित की जायेगी। एक साहित्यकार के लिए इस प्रश्न का मुख्य अंग यह है कि साहित्यकार स्वयं अपने को श्रमजीवी श्रेणियों से एकात्म कर (और अपने अभिजात्य का झूठा दर्प छोड़कर तथा शोषक वर्गों से अपने अस्वाभाविक 'तादात्म्य' को तोड़कर) उनकी दृष्टि से (कहना चाहिए कि अपनी 'नयी दृष्टि' से) यथार्थ को देखे तथा शोषण और अन्याय की चेतना से अपनी रचनाओं को लैस करे। इस दृष्टि से 'प्रेरित' रचना अपने पाठकों को भी इस चेतना से और शोषक सत्ता के विरुद्ध लड़ने की भावना से सम्पृक्त होने में सहायता देगी—हालांकि हो सकता है कि विनेन्द्र अनिल की भाँति रचनाकार अपनी रचना के लिए 'वैयक्तिक सुख-दुख और जिंदगी के अन्य जीवन्त अनुभव' को ही आधार मानता हो। मगर तब उसका 'वैयक्तिक सुख-दुख और जिन्दगी के अन्य जीवन अनुभव' समस्त श्रमजीवी जनता के सुख-दुख और अनुभव बन जायेंगे, उन्हें अपनी अस्मिता का अनुभव करायेंगे और शोषकों की सत्ता का अन्त करने के संघर्ष में योगदान करने के लिए प्रेरित करेंगे। पिछले दशक की कविता ने यही भूमिका प्रारम्भ की थी और अनेक नये कवियों ने इसको आगे बढ़ाया है। ललित इस चेतना के निकट पहुँचते हैं यह देखकर कि 'करोड़ों की संख्या में जब लोग प्रायः भूखे हों तो कवि-कर्म यह होना चाहिए कि आज की कविता में सौन्दर्य बोध, वासना, रहस्य-अध्यात्म से परे उस भूख

का चित्रण हो। उस भूख से सम्बन्धित सारी स्थितियों का चित्रण हो।' रामदेव आचार्य कहते हैं, 'आज तो मुझे छोटे आदमी के अस्तित्व के लिए समर्पित होना है, क्योंकि पक्षधरता मेरी बुनियादी आस्था है।' निर्मल शर्मा ने किसान-पिता की पीठ पर 'नीले निशानों की भाषा' इन शब्दों में पढ़ी और विद्रोह-भाव से फूट पड़े :

> एक दिन नहाते समय / उनकी झुर्रीदार पीठ पर / मैंने / कुछ पढ़ने की कोशिश की / और मैं घृणा से भर गया / वहाँ नीले निशान थे / नीले निशानों की भाषा को / पढ़ने के मेरे प्रयास को / मा भांप गयी थी / और /···

डा० सुधा गुप्ता एक 'पनीली आँखों में विवशता से द्रवित हो जाती हैं और चित्र अंकित करती हैं :

> अपने कड़ियल जिस्म को / उसने बुवाई में लगा दिया / दर्द से पिराती कमर / मुकदमे के फैसले की चोट से / और पिराने लगती है / कैसे गंजई का एक पूरा खेत / बीच में से दरक गया / और वह सीने पर / लगातार हवा की बजती सीटियाँ झेलता रहा /
>
> (बरफ़ सी सुफेदी)

राजकुमार कुम्भज उन कवियों में से हैं जो शोषित-पीड़ित व्यक्ति को दूर से देखकर नहीं सिहर उठते बल्कि स्वयं अपने व्यक्तित्व में उसे खोज लेते हैं और पाठक के पास से गुज़र कर उसे झकझोर देने का, उसे स्वयं अपनी अस्मिता का बोध देने का प्रयत्न करते हैं :

> मैं। बिल्कुल अभी-अभी गुज़रा हूँ / तुम्हारी बगल से। तुम्हें स्पर्श देते हुए / मगर। तुमको दिखाई नहीं दिया / मेरी ज़ख्मदार पीठ पर। बैठा हुआ / खून से लथपथ सूर्य / मुझे अफ़सोस होता है / कि तुम। अपनी ऐनक और आइना / साफ़ क्यों नहीं करते। अभी ? / और माफ़ क्यों नहीं करते मित्रता में संदेह ?
>
> (खून से लथपथ सूर्य)

दिविक रमेश के पास से ऐसा ही सूर्य गुज़रता है तो वे एक बेचैन तूफान से ग्रस्त हो जाते हैं :—

> इन्हीं की 'कांक्षाओं को ढोता हुआ / सूरज का बेटा / इनकी बस्ती से गुज़र गया था / तभी से / कहीं भीतर ही भीतर / बेचैन तूफान / फूट-फूट बहना चाहता है / नदी के बाढ़ सा।

यह बेचैनी कवि को और उसके पाठक को जन-आन्दोलन में भाग लेने के लिए

प्रेरित कर सकती है। इसलिए जहाँ विजेन्द्र अनिल का यह कहना संगत है कि 'कविता ने मुझे जीवित रहने और लगातार संघर्ष करने की प्रेरणा दी', वहाँ ध्रुवदेव मिश्र पाषाण की यह समझ भी उतनी ही सही है कि 'कविता मेरे लिए दुनिया की नियति को सही तरतीब देने की कोशिश में शामिल होने का एक ज़रूरी जरिया है।' लेकिन जो चीज़ 'मेरे लिए' सार्थक है, वह 'दूसरों के लिए' भी सार्थक होनी चाहिए और इसलिए हर कविता व्यक्तिगत चीज़ से आगे बढ़कर सार्वजनिक चीज बन जाती है। पाषाण जिस प्रक्रिया को 'एक ज़रूरी ज़रिया' बताते हैं, श्यामनारायण उसी को एक हथियार मानते हैं। यहाँ 'जरिया' और 'हथियार' एक प्रकार से समानार्थक बन गये हैं। मगर इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि क्रान्ति के लिए कविता या साहित्य को एक हथियार की ही तरह इस्तेमाल करना चाहिए। कविता तो क्रान्ति के विभिन्न हथियारों को चलाने वाले 'मनुष्य' को उसकी मानसिकता से लैस मात्र कर सकती है; वह कोई कार्यनीति नहीं दे सकती। कार्यनीति निर्धारित करने का काम राजनीतिक संगठनों और जन-संगठनों का है जिनमें कवि और साहित्यकार उनके एक सदस्य के रूप में भाग ले सकता है, मगर वहाँ की कार्यपद्धति कविता की रचना-प्रक्रिया से भिन्न होगी। और कोई आवश्यक नहीं कि साहित्यकार उसमें भाग ले ही। वह कविता के ज़रिए एक भिन्न रूप में शामिल हो सकता है। दूसरे शब्दों में कविता क्रान्ति के लिए सक्रिय काम करने की आवश्यकता का स्थानापन्न नहीं हो सकती। इस अर्थ में अगर डा० रणजीत 'कविता मात्र को क्रान्ति का हथियार या सामाजिक परिवर्त्तन का औज़ार मानने की संकीर्णतावादी दृष्टि को भी स्वीकार नहीं' करते तो कोई आपत्तिजनक बात नहीं। मगर उनका यह आग्रह सही नहीं लगता कि हर 'निराशापूर्ण' कविता को भी प्रगतिशील या क्रान्तिकामी कविता के अन्तर्गत स्वीकार किया जाय।

वास्तव में, आज स्थिति की भयंकरता और वीभत्सता से इनकार करना यथास्थिति-वादी या प्रतिक्रियावादी साहित्यकारों के लिए भी सम्भव नहीं है। इसलिए प्रतिक्रियावादी साहित्यकार एक ओर बड़े आक्रामक और उग्र रूप में स्थिति का बोध देता है, इतने उग्र रूप में कि वह क्रान्तिवादी रुख लग सकता है, मगर उसकी परिणति या अन्त 'निराशा' में करता है और कहता है कि 'सब चोर हैं', मनुष्य की नियति यातना-भोगना है और वह भोगता ही रहेगा। इस प्रकार वह स्थिति-परिवर्त्तन के समस्त संघर्षों की निरर्थकता सिद्ध कर देता है। 'निराशा' के इस प्रतिक्रियावादी स्वरूप का पर्दाफाश करना अत्यन्त आवश्यक है।

माना जाता है कि क्रान्तिकारी कभी निराश नहीं होता, हार के क्षण में भी

नहीं, अपनी पांत के तितर-बितर हो जाने पर भी नहीं, क्योंकि अपनी स्थिति बदलने की मानव की क्षमता में उसका अगाध-विश्वास होता है। इसलिए क्रान्तिकारी बुनियादी रूप से आशावादी होता है। पराजय के क्षण को वह अस्थायी मानता है और वह क्षण पुनरावलोकन तथा पुनःपरीक्षण का क्षण होता है जिनमें वह अपने खेमे की किन्हीं कमज़ोरियों पर आक्रमण कर सकता है या खीझ प्रकट कर सकता है। मगर खीझ और निराशा में बड़ा अन्तर है। अगर इन दोनों को समानार्थक भी मान लिया जाय तो ऐसी 'निराशा' जो हमें निराकरणात्मक क्रियाशीलता के लिए प्रेरित करती है, निराशा नहीं मानी जायेगी क्योंकि उसकी बुनियाद में आशा का बीज तो रहेगा ही। विनय के शब्दों में, 'कभी तो सत्य को प्रमाणित करना / कोई गवाह / ज़रूर जन्म लेगा।''

डॉ० रणजीत अपनी जिस कविता में निराशा के भाव को स्वयं स्वीकार कर रहे हैं, और एक वामपंथी सम्पादक द्वारा लौटाये जाने पर क्षोभ प्रकट कर रहे हैं, उसमें गलती कहाँ है, यह तै करना कठिन है क्योंकि कविता सामने नहीं है। कोई आवश्यक नहीं कि सम्पादक का निर्णय गलत न हो। मगर उससे कोई आम निष्कर्ष निकालना गलत है। अक्सर यह भी होता है कि कवि व्यक्तिगत जीवन में किसी घटनावश एक मनःस्थिति विशेष में एक कविता की रचना कर डालता है जो उस समय की आम मनःस्थिति से भिन्न होती है। ऐसी स्थिति में यह सम्भव है कि किसी पत्रिका का सम्पादक उस रचना को वापस कर दे। मगर इससे न तो वह कविता बुरी हो जाती है और न प्रतिक्रियावादी।

ऐसा लगता है कि डॉ० रणजीत वर्ग-संघर्ष का वही अर्थ लेते हैं जो पूँजीवादी या गैर-मार्क्सवादी विचारक लेते हैं। यह बात फ़ैज के एक शेर के वजन पर रचे गये उनके निम्नलिखित शेर से प्रकट होती हैं :

> और भी सच्चाइयाँ हैं जिंदगी में वर्ग के संघर्ष के अतिरिक्त भी,
> दर्द, मस्ले, राहतें इन्सान की हैं बहुत सी जो अर्थ से निर्लिप्त भी !

स्पष्ट ही, यहाँ वर्ग संघर्ष से में केवल आर्थिक-राजनीतिक संघर्ष ही शामिल किये गये हैं। और चूँकि 'अर्थ' से निर्लिप्त (स्पष्ट ही यहाँ 'अर्थ से निर्लिप्त' का अर्थ 'एब्सर्ड' नहीं हो सकता, क्योंकि डॉ० रणजीत अपने को प्रगतिशील साहित्य का पक्षधर मानते हैं) बहुत से 'दर्द, मस्ले और राहतें' हैं, इसलिए वे डॉ० रणजीत की राय में 'प्रगतिशीलता' के दायरे में तो आ सकती हैं, वर्ग संघर्ष के दायरे में नहीं। मार्क्सवाद के विषय में मेरा जो थोड़ा सा ज्ञान है, उसके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि वर्ग-संघर्ष के दायरे में वे तमाम वैयक्तिक और नैतिक निर्णय भी आते हैं जो विभिन्न दर्द, मस्लों और राहतों के बारे में मनुष्य को करने पड़ते

हैं, फिर चाहे वे फैसले अपनी प्रेमिका या पत्नी या प्रकृति वोध के वारे में ही क्यों न हों। वर्ग संघर्ष आर्थिक-राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं है, वैचारिक और नैतिक क्षेत्र में भी है; वल्कि यह कहना चाहिए कि वैचारिक और नैतिक क्षेत्र में वर्ग संघर्ष चलाये विना और शोषकों की मान्यताओं का उन्मूलन किये विना वह नया इन्सान नहीं पैदा किया जा सकता जो वर्ग संघर्ष को उसके चरम-शिखर तक ले जाकर शोषक व्यवस्था का यानी स्वयं वर्ग संघर्ष का पूर्णतया उन्मूलन कर सके। वर्ग संघर्ष का लक्ष्य शोषकों को सत्ता से हटाना और एक वर्ग रूप में उनका उन्मूलन करना ही नहीं है; उसका लक्ष्य मनुष्य के दिमाग से शोषकों की विचार-धारा नैतिक मान्यताएँ और जीवन-पद्धति की धारणाओं का उन्मूलन करना भी है। मार्क्सवादी विचारधारा के उदय से पहले दार्शनिक समझते थे कि मनुष्य को उपदेश देकर सुधारा जा सकता है, मगर हजारों वर्षों के उपदेशों ने शोषकों की नैतिक मान्यताओं का विनाश नहीं किया उलटे उनके भ्रष्ट आचरण बढ़ते गये। कुछ व्यक्ति 'सुधर' गये हों तो बात अलग है। मार्क्स पहला दार्शनिक था जिसने वताया कि मनुष्य को नैतिक रूप से श्रेष्ठ बनाने के लिए आवश्यक है कि उसकी भौतिक परिस्थितियाँ बदली जायें। वर्ग संघर्ष इसी का हथियार है। कविता की और आम तौर पर साहित्य की खूवी यही है कि वह मनुष्य के दिमाग से शोषकों के भ्रष्ट जीवन-मूल्यों को निकालने और श्रमजीवी जनता के वास्तविक जीवन-मूल्यों को; 'वास्तविक' इसलिए कहना पड़ता है कि वर्ग-विभक्त समाज में श्रम-जीवी जनता भी शोषकों के प्रतिमानों से आक्रान्त होती है; प्रस्थापित करने का श्रेष्ठ साधन है। इस अर्थ में वह क्रान्ति का हथियार या औजार है। इसलिए विजेन्द्र अनिल, निर्मल शर्मा, ध्रुवदेव मिश्र पाषाण, श्यामनारायण आदि सभी कवियों की प्रस्थापनाएँ कुल मिला कर आज के रचनाकारों की रचना-प्रक्रिया का सही प्रतिनिधित्व करती हैं।

[३]

मगर कविता को 'दुनिया की नियति को सही तरतीब देने की कोशिश में शामिल होने का ज़रिया' बनाने मात्र से उसको साहित्यिक गरिमा नहीं मिल सकती। उससे एक कविता रचने का एक विशेष प्रकार का कच्चा माल मिल सकता है। मगर रचना कितनी सुसम्पन्न होगी, यह रचनाकार के कौशल पर निर्भर करेगा; जैसे कम से कम सामग्री बरबाद करते और विषय-वस्तु में रूप-गत नवीनता पैदा करते हुए, मूर्त्तिकार कैसी सुन्दर या प्रेरक मूर्त्ति बना सकेगा, यह केवल पत्थर की किस्म पर नहीं, उसके कौशल पर भी निर्भर करेगा। कवि के लिए भी यही बात सच है।

साहित्य एक रचनात्मक कर्म है। रचनाकार अगर कुछ नवोन्मेष नहीं करता, तो वह रचनाकार नहीं है। अनुकरण रचनात्मक कार्य नहीं माना जा सकता, हालांकि नकल के लिए भी अक़्ल की ज़रूरत होती है। इसलिए रचनाकार कला-रूप और शिल्प के क्षेत्र में नया प्रयोग किये बिना अपने से सन्तुष्ट नहीं होता। साहित्य-रचना अपने में एक व्यक्तिगत कार्य है और उसपर व्यक्ति की छाप अनिवार्य है, मगर उसके फल का उपभोग सामाजिक है, इसलिए उसकी सामाजिक परिणति का ध्यान रखना पड़ता है और चूँकि मेहनतकश जन का समाज से कोई बुनियादी टकराव नहीं है (बुनियादी टकराव तो शोषक और शेष समाज के बीच है)। इसलिए सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना मेहनतकश जनता से तादात्म्य स्थापित किये हुए कवि के लिए कोई बाहरी चीज़ नहीं, स्वयं अपने प्रति ईमानदारी बरतने का ही एक स्वाभाविक रूप है।

साहित्य-समीक्षा में इन दिनों'ईमानदारी' शब्द का बड़ा प्रयोग किया गया किन्तु, ईमानदारी और 'ईमानदारी' में भेद है। यथा-स्थिति-वादी समीक्षक का 'अपने प्रति ईमानदारी' से तात्पर्य होता है कि कलाकार सामाजिक स्थिति की विकटता और क्रूरता तो स्वीकार करे, मगर उसमें परिवर्त्तन की कोई सम्भावना स्वीकार न करे—अगर स्वीकार किया तो वह 'आरोपित' भाव होगा। रूपान्तरकामी समीक्षक इस समीक्षा को सतही और रूढ़िवादी मानता है। संघर्षप्रियता और विकासोन्मुखता मनुष्य का सहज स्वभाव है और ईमानदारी यही है कि इस मामले में शोषकों तथा उनके चाकरों की 'ईमानदारी' का पर्दाफ़ाश किया जाय। फिर भी इस मामले में यह देखना भी आवश्यक है कि कुछ रचनाकार 'ईमानदारी' से निराशावादी हो सकते हैं—इसलिए कि उन्हें जन-आन्दोलन और संघर्ष की लहर दिखायी नहीं देती। फिर भी अगर उनकी रचना में एक उत्कट परिवर्त्तन-भावना इतनी व्यापक होती है कि वह प्रधान हो जाती है तो अपने निराश स्वर के बावजूद वह मेहनतकश जनता के लिए मूल्यवान कृति है। उदाहरण के लिए डा० सुधा गुप्ता की कविता 'बरफ़ सी सुफ़ेदी' का एक अवसाद भाव में इस तरह अन्त होता है :

> भैरों जी के सामने माथा टेक / सिन्दूर और मालीपन्ना लगाकर / गर्दन झटकता वह / चुप-चुप गर्द से भरी सड़क पर / अँधेरे में खो जाता

मगर इसके अवसाद-भाव के पीछे इससे पहले की यह पंक्ति, 'सब कुछ छोड़ / साले की गर्दन पकड़ने को जी चाहता / लेकिन वह सघन चुप्पी लगा / लम्बे ताड़को देखता' उस भूमि वंचित किसान के विद्रोह-भाव की ऐसी छाप

छोड़ जाता है कि अवसाद-भाव राख में दबी आग का बोध देता है, कोरी राख का नहीं।

दूसरे, किसी कवि के कृतित्व की सार्थकता को उसकी एक रचना से नहीं, उसके रचना-क्रम की सम्पूर्ण दिशा से देखना चाहिए। एक विशेष मन:स्थिति में वह जो महसूस करता है, वह वास्तव में एक खण्ड है उसकी अनुभव-यात्रा का, इसलिए उसको सम्पूर्ण से अलग काट कर देखने से न्याय करना शायद असम्भव हो जाय। इसलिए रचना-मूल्य निर्धारण करने में 'ईमानदारी' का प्रयोग न तो व्यक्ति निरपेक्ष हैं और न काल-क्रम से अलग।

कविता की रचना और मूल्यांकन, दोनों ही, आज कठिन हो गये हैं तो इसलिए कि रचनात्मकता के सारे पुराने प्रतिमानों को तिलांजलि दी जा चुकी है,—छंद-विधान, अलंकरण और रसोत्पादकता जैसे प्रतिमानों का आज कोई अर्थ नहीं है। इसी कारण कविता-रचना और मूल्यांकन दोनों कठिन ही नहीं हो गये हैं, बल्कि समीक्षकों के मनमानेपन के शिकार हो गये हैं।

छंद-विधान को भले ही तिलांजलि दे दी गयी हो, फिर भी आज भी गद्य और पद्य में मुख्य अन्तर यही है कि गद्य में लय होती है—अर्थ की लय नहीं, शुद्ध ध्वनियों की लय। बोलचाल में जितनी अधिक लय होती हैं, उतनी ही अधिक वह मधुर मालूम होती है। आज भी किसान की बोली जितनी लयात्मक है, उतनी नगर में रहने वाले व्यक्ति की नहीं।

मगर यह लय गद्य में भी हो सकती है। तब पद्य को हम कहाँ से उससे अलग करते हैं। प्रथमत: यह कि पद्य का निर्माण अनुभूति के कच्चे माल से होता है और अत्यन्त सांकेतिक भाषा से वह अनुभूति विशेष को सम्प्रेषित करता है। संक्षिप्तता उसका प्रधान गुण है। बिम्ब और प्रतीक इसको उपलब्ध करने में सहायक होते हैं, मगर इनका होना कोई अनिवार्य नहीं है। 'सपाट बयानी' में भी सांकेतिक और संक्षिप्त अभिव्यंजना द्वारा अनुभूति विशेष संक्षिप्ततया सम्प्रेषित करना सम्भव हो सकता है।

अन्तत: अनुभूति के संम्प्रेषण में कहाँ तक सफलता मिलती है, यही कविता की श्रेष्ठता की कसौटी हैं। रचनाकार ने जो दर्द भोगा है, उसको वह अगर सामान्य पंक्ति में भी व्यक्त कर देता है तो काफी समय बाद भी उसी पंक्ति को पढ़ने से वह दर्द फिर उसके सीने में उभर उठेगा। किन्तु दूसरे व्यक्ति तक, पाठक तक, यह पीड़ा सम्प्रेषित करने में सबसे पहली बाधा यह है कि दूसरे व्यक्ति के लिए वह भोगा हुआ यथार्थ नहीं है। यह खाई पाटना कला है और हर कलाकार के सामने प्रधान समस्या यही होती है। लयात्मकता, बिम्ब, प्रतीक, संकेत आदि का सहारा लेकर रचनाकार को न केवल वह पीड़ा व्यक्त करनी

पड़ती है; बल्कि ऐसा वातावरण पैदा करना पड़ता है जिसमें कविता का पाठक उस पीड़ा विशेष को ग्रहण करने के लिए तैयार हो।

अनुभूति और उसके सम्प्रेषण के बीच खाई पाटने के लिए इस समय कवि अनेक कविता-रूपों के प्रयोग कर रहे हैं। लयात्मकता बढ़ाने के लिए तुक (अन्त्यानुप्रास) का प्रयोग फिर बढ़ गया है। बात को मुहावरा बनाकर उसे स्मरण-योग्य बनाने के चातुर्य का पुनरुत्थान हुआ है। व्यंग्य या विडम्बना के उद्घाटन की मार से पीड़ा सम्प्रेषित करने की कला का विशेष रूप से विकास हुआ है। पुराने प्रतीकों और पौराणिक कथाओं के जाने-माने सन्दर्भों के माध्यम से—जिसे 'जातीय स्मृति' कहा जाता है—नयी समस्याओं को सहज सम्प्रेषित करने की कला में भी परिष्कार हुआ है।

पर मुझे लगता है कि लाक्षणिकता, सांकेतिकता या संक्षिप्तता को नये कवि कम महत्त्व दे रहे हैं। लम्बी कविताओं में तो यह गुण पीड़ादायक सीमा तक अनुपस्थित रहता है। उदाहरण देना व्यर्थ है। किसी भी लघुपत्रिका की पाँच कविताओं में से तीन को इस दुर्गुण से ग्रस्त पाया जा सकता है। काफ़िया या छंद और तुक की पाबन्दी न होने के कारण यह दुर्गुण संभालना कठिन होता है। इसलिए इस दिशा में रचनाकार के सचेत प्रयत्न की आवश्यकता है। प्रारम्भिक सचेत प्रयत्नों के साथ यह रचनाकार का स्वभाव बन जाता है और तब वह कह सकता है—कविता लिखता नहीं हूँ, बस वह अपने आपको मुझसे लिखा लेती है। समसामयिक कवि इस रहस्यवादी उक्ति में विश्वास नहीं करता। वह जानता है कि वह स्वयं कविता लिखता है और उसके लेखन की श्रेष्ठता लेखन-कौशल के विकास पर निर्भर करती है जो सचेत प्रयत्न के बिना सम्भव नहीं है। प्रेरणा के लिए दुनिया और जीवन की समझ चाहिए तो कलात्मक परिष्कार के लिए कलात्मक चेतना की जिसमें शब्दों, मुहावरों और 'जातीय स्मृति' पर अधिकार के साथ इन्द्रिय बोध को शब्द-बोध से जोड़ने की क्षमता आवश्यक है। रचनाकार न तो परम्परा से बँधा रहता है और न उसकी पूर्णतया उपेक्षा कर सकता है। परम्परा और भविष्य के बीच एक कड़ी के रूप में ही उसकी सार्थकता है और कड़ी जितनी वास्तविक होगी, उतनी समसामयिकता के पार उसके भविष्य में भी जीवित रहने की सम्भावना बढ़ती है।

किन्तु समकालीन कवि को अपनी रचना शाश्वत बनाने की चिन्ता नहीं है। वह तो अपनी बात कहने के लिए अधीर है और इस तरह कहने के लिए कि वह बात सहज सम्प्रेषित हो। इसलिए पुराने कवियों की तरह अपनी भाषा शब्दकोशों और शास्त्रों से नहीं, जनता की बोलचाल से ग्रहण करता है और नये विचारों के अनुरूप उसे तरतीब देता है। बिम्ब-प्रतीक बात को प्रभावशील बनाने का

माध्यम हो सकते हैं; वे स्वयं अपने में कोई साध्य नहीं हैं। कभी-कभी सीधी सादी बात समस्त अलंकरण से अधिक मर्मस्पर्शी हो सकती है, तब उसे कविता मानने में कोई बाधा नहीं होती।

समकालीन कविता श्रमजीवी व्यक्ति के भावलोक का प्रतिबिम्ब है और उसकी ही भाषा तथा मुहावरे में। उसकी आयु अभी कम है। मगर वह अपनी सभी पूर्ववर्ती धाराओं से अधिक लम्बी उम्र पायेगी, इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है।

समकालीन कविता : हिंसा का इतिहास : ऐतिहासिक हिंसा का पर्दाफाश

□ बलदेव वंशी

समकालीन हिन्दी कविता में जब से विचार-आग्रह तथा सामाजिक पक्ष-धरता के रुझान बढ़े हैं, तब से उसके मानवीय हिंसा और गुलामी के विरुद्ध एक जिहाद उत्तरोत्तर तेज़ होता गया साफ देखा जा सकता है। भारतीय जीवन में व्याप्त हिंसा की क्रूर प्रतिच्छवियों को समकालीन कविता में स्पष्ट चित्रित करने में रचनाकारों ने, जिस इन्सान की पक्षधरता का हलफ लिया है, वह हर स्तर पर, हर दृष्टि से, हर अंध धर्म और नीति का शिकार हुआ है, हो रहा है। हिंसा का यह इतिहास, अपनी ऐतिहासिकता में काफी पुराना है, जिसे भारत की स्वतंत्रता भी रोक नहीं पायी थी; बल्कि एक नए अंदाज और शक्ति (राजनीतिक सत्तात्मक) से समन्वित हो अधिक पेचीदा, अमूर्त्त-मूर्त्त और व्यापक तथा अनेक मुखी हो गया। यह ऐतिहासिक हिंसा सत्ता के हाथों में पड़कर बड़ी सूक्ष्म और अमूर्त्त भी हो गयी। प्रत्यक्ष-परोक्ष टैक्सों की तरह सदन की कलम के द्वारा निर्णीत-वैधानिक बनकर यह हिंसा उपभोक्ताओं के घर स्वयंमेव पहुँचती रही है, तो कभी-कभी गलियों-सड़कों-चौराहों पर घटित होती रही है। रूप अलग होते हुए भी प्रकृति एक ही रही है उसकी। आपात्काल में, वह जिस चरम सीमा को छू गयी उसकी शुरूआत सन '७४ के गुजरात-बिहार के आन्दोलनों से बहुत पहले 'नेहरू युग' में ही हो चुकी थी। नेहरू जी शांति-समृद्धि के युगल की समलैंगिकता में मुग्ध उसके अन्तर्राष्टीय दूर-दर्शन कार्यक्रमों में व्यस्त रहे। इधर 'अपराधियों के संयुक्त परिवार' ने लोकतंत्र को स्वार्थतंत्र में परिणत कर दिया। अफसरशाही के चौखटे में अपने दलालों को फिट कर दिया। हिंसा और शोषण की इतिहास-रचना में पूँजीवादी हितों के साथ सत्ता का हाथ भी मिल गया, जो 'नेहरू युग' से प्रारम्भ हुआ और 'इंदिरा युग' में अपनी चरम सीमा को प्राप्त हुआ।

यदि समकालीन कविता को उक्त हिंसा की 'खौफनाक खबर' मान लिया जाय तो उसकी भयानकता के आसंगों के विस्तार में जाकर उन नृशंसताओं, बर्बरताओं को आकलित करना भी जरूरी हो जाता है, जिनके रहते वह खबर बनने को बाध्य हुई, क्योंकि—

'शहर का हर बशर वाक़िफ है
कि पच्चीस साल से यह मुजिर है
कि हालात को हालात की तरह बयान किया जाए
कि चोर को चोर और हत्यारे को हत्यारा कहा जाए'

(मुनादी, धर्मवीर भारती)

और पच्चीस (अब उन्नतीस) साल से हिन्दी कविता में इस 'हालात' को बयान किया जा रहा था। चोर को चोर और हत्यारे को हत्यारा कहा जा रहा था। जिसे शासन-सत्ता आँखें मूंदे देखती रही और बंद-कानों सुनती रही।

समकालीन कविता के इस पहलू को समझने के लिए उन सभी अहसासों को संजोना-परखना होगा, जो घटनात्मक या अघटनात्मक तरीके से खबर बनने के योग्य हुए तथा पूर्व की सभी क्रमिकताओं को उत्तरोत्तर लाँघते, पहचानों को रौंदते आगे बढ़ते रहे। इसमें किसी को संदेह नहीं कि भारत में भी मानव-विरोधी अभियान बे-खटके आगे बढ़े और स्वातंत्र्योत्तरकाल के समूचे हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्त हुए। यों स्वातंत्र्योत्तरकाल से आपात्काल तक की हिंसा यात्रा का लेखा एवं अन्त:साक्ष्य हिन्दी साहित्य में बदस्तूर मिल जाता है। इस सिलसिले में, हमें इत्मीनान है कि कविता सब से पहले हिंसा की खबरों को अपनी धड़कनों-साँसों से व्यक्त कर सदा पहल करती आयी है। अत:—

'हजारों बरस से राज यह खुला है वह दोगला है
जो सुराग नहीं लेगा अंध्यारी सुरंग का और शोहदे मौसम की
गढ़ी गोड़ते हुए लहलहाती धरती वापस नहीं देगा।'

(राजीव सक्सेना; विचार कविता की भूमिका पृ० १२८)

हजारों बरस से चले आते शोषणक्रम में सत्ता का दोगलापन जुड़ कर जो कमाल दिखा सकता था, वह उसने दिखाया। इसे रघुवीर सहाय द्वारा लगाये गये सीधे अभियोग में देखें—

'तुमने मार डाले लोग
......
क्योंकि वे हँसे थे
....

क्योंकि वे सुस्त पड़े थे

......

क्योंकि वे बहुत सारे लोग थे....'

(रघुवीर सहाय : हँसो हँसो जल्दी हँसो; पृ० १)

इन सुस्त पड़े बहुत सारे लोगों की हँसी कैसी हिंसा भड़का सकती है? हिंसक इरादों को किस हद तक उभार सकती है? वह उन हँसने वालों को ही समाप्त करने को आमादा हो गया।

इससे पूर्व 'आत्म हत्या के विरुद्ध' में भी रघुवीर सहाय ने दो दशक पहले यह रपट दी थी—

'कुछ करो / उसने कहा लोहिया से लोहिया ने कहा / कुछ करो खुश हुआ वह चला गया अस्पताल / में भीड़ / भौंचक भीड़ धाँय-धाँय / सौ हजार लाख दर्द आठ दस क्रोध / तीन चार बंद बाजार भय भगदड़ गर्द / लाल / छाँह धूप छाँह, नहीं घोड़े बंदूक / धुआँ खून चीख / पर हम जानते नहीं / हम क्या बनाते हैं / जब हम दफ़नाते हैं / एक हताश लड़के की लाश बार-बार....' (पृ०—२४)

विजयदेव नारायण साही, राजीव सक्सेना, कैलाश वाजपेयी, रमेश गौड़, धूमिल, जगूड़ी, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, ऋतुराज, आदि कवियों ने अपनी दो दशकपूर्व की कविताओं में जिस हिंसा का स्पष्ट उल्लेख किया वह खबरों के स्तर पर उत्तरोत्तर अचंभित करने वाली और बढ़-चढ़ कर सिद्ध होती रही हैं। इसे, ऐतिहासिक रूप में महसूस करने और राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में गहन स्तर पर व्यक्त करने वाले कवि मुक्तिबोध ने वरीयता दी थी।

धूमिल ने व्यवस्था के इस हिंसात्मक रूप को 'मादा भेड़िया' के रूपक द्वारा व्यक्त किया है। व्यवस्था के इस हिंसक रूप की ठंडी-निश्चिंत मनःस्थिति को उजागर करते हुए कहा है कि 'मादा भेड़िया अपने छौने को दूध भी पिला रही है और साथ ही मेमने का। इस कथन से स्थिति की क्रूरता (Callousness) बखूबी प्रकट हो जाती है। पूँजीवादी (अर्द्ध?) व्यवस्था अपनी जिन संतानों को दूध पिला कर पालती रही है, उनकी सुविधा निष्कंटक उनके सुविधा-विकास के लिए मेमने के सिर को चबाती रही हैं। और उद्धरण लें—

मैं नाखून पर नाखून जमा कर
वर्तमान से अपना संवाद शुरू कर देता हूँ
जबकि,
वर्तमान
खून के आईने में

अपनी शक्ल खोजने में लगा रहता है।'
(कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह : विचार कविता की भूमिका, पृ० १६४)
'आसपास तेरे गिद्ध उड़ रहे हैं
माथे पर बर्फ़
पाँव लावे में
तेरे शहर और गाँव जल रहे हैं''
(कैलाश वाजपेयी, तीसरा अंधेरा, पृ० २०)

'वर्तमान का खून के आईने में शक्ल बदलना' तथा 'जलते हुए शहर और गाँव' वाले मुखर उल्लेख हिंदी कविता के माध्यम से जिस बर्बर-व्यवहार और हिंसा की खुल कर उदघोषणा कर रहे थे, इसके आगे तो सत्ता द्वारा कुछ उठा रखने की गुंजाइश नहीं थी।

छठे-सातवें दशकों में हिंदी कविता में परिवेशगत हिंसा के चर्चे खूब होने लगे थे। आम आदमी यह सोचने लगा था कि यह जुल्म उसकी नपुंसकता की उपज है। यह हत्या-विचार उसी में उसकी दयनीयता में से बल प्राप्त कर रहा है—

'मुझ में से पाता है हत्या का बल
हर
आने वाला कल,
मेरा अहं झूठा है :
न्यायालय की दीवार के सामने'
(बलदेव वंशी : दर्शकदीर्घा से; पृ० २३)

आठवें दशक के आरंभ में यानि 'इंदिरायुग' में पदार्पण करते हिंसा इतिहास और आगे की मंजिलें तै करने के उत्साह बटोरने में जुट गया। उसे बल मिला लोकतंत्र प्रणाली के चुनावी तंत्र द्वारा, जिस पर भारत के बड़े पूँजी निकायों का लगभग एकाधिकार रहा है। सार्वजनिक भारतीय जीवन का झुलसा-धुआँख चेहरा संवेदनशील आँखों से ओझल कभी नहीं हुआ। अंतर मात्र इतना रहा है कि वद्धस्थली की मौजूदगी की सच्चाई और उस पर उठे हुए हाथों को कुछ ने भय में, कुछ ने स्वार्थ में अनदेखा कर दिया तो कुछ अन्य चिल्ला उठे। कविता उनके लिए चीख बन गयी।

लोकतंत्र जब लोकतंत्र हो कर भी लोकतंत्र नहीं रहता, एक निरीहतंत्र बन कर हरिजनों के घर जलाने, उन्हें ज़िंदा आग में झोंकने की हिंसक वारदातों को बढ़ाता है, कानून-व्यवस्था का अपने हक में इस्तेमाल करने लगता है, तब सार्व-

जनिक हिंसा अस्पतालों में नकली दवाओं के रूप में घरों में मिलावटी उपभोक्ता वस्तुओं के रूप में पहुँचने लगती है और सार्वजनिक सुविधाओं-सम्पत्तियों-व्यवहारों-आचारों का इस्तेमाल बदल जाता है; प्रत्येक नागरिक सत्ताशाहों के आगे अपराधी बन जाता है। तब न्याय की परिभाषाएँ और संविधान की पवित्र धाराएँ बदल जाती हैं। कविताएँ इन हिंसक दस्तकों की गूँजों से भर जाती हैं। अपने कृत्यों से सत्ता उन्हें प्रमाणित भी करती चलती है—

'डाक्टर ने मेज़ पर से
आपरेशन का चाकू उठाया—
मगर वह चाकू नहीं
जंग लगा भयानक छुरा था
छुरे को बच्चे के पेट में भोंकते हुए
उसने कहा—
अब यह बिल्कुल ठीक हो जायेगा।'

(इंतिजाम : कुँवर नारायण : धर्मयुग, २४ अप्रैल, ७७)

उक्त उद्धरण 'अपातकाल' के सन्दर्भ में लिखी कविता से है। कुँवर नारायण ने 'बर्बरों का आगमन' शीर्षक से जिस जंगलीपन के लौटने को चित्रित किया है, वह इधर युवा कवियों की ढेरों कविताओं में व्यक्त हुआ है। मज़ा यह है कि ये कविताएँ अधिकांशत: जिस वैचारिक प्रतिबद्धता में लिखी गयी हैं, वह राजनीतिक उपयोग की भले ही मान ली जाए, वस्तुत: वह ऐसी है नहीं क्योंकि ये कविताएँ प्रत्येक प्रकार की मानव-विरोधी राजनीति के विरुद्ध हैं। वे उस शाश्वत आपात्काल और ऐतिहासिक हिंसा के विरुद्ध लिखी गयी और लिखी जा रही हैं कविताएँ हैं, जिसने मनुष्य मात्र को 'मनुष्य'—संज्ञा से नीचे जीने को विवश कर रखा है। यह बात अलग है कि कुछ सामयिक 'आपात्काल' कुछ अधिक उत्तेजना देकर कवि और कविता को तात्कालिकता के दबाव में अधिक उद्वेलित कर दे, ऐसे में कुछ भी संभव हो सकता है—

'सभी कुछ संभव
जब चीजें दलदल में हों
या छुरे की नोंक पर'

('छुरे की नोक पर' नरेन्द्र मोहन: इस हादसे में, पृ० ६७)

आपात काल के दौरान हिन्दी कवियों की अनेक मार्मिक, गहन अनुभूति और तेज धारदार विचार की काटवाली कविताएँ लघुपत्रिकाओं में आती रही हैं, इनमें से अधिकांश कविताओं की कतरने मैं तभी से संजोता रहा हूँ। और कुछ

अन्य जो वाद में मेरे देखने-पढ़ने-सुनने में आयी हैं, उनमें से कुछ के नामोल्लेख यहाँ अनिवार्य है—ओमप्रकाश निर्मल—'घुघ्घू बोल रहा है', अजामिल—'गूंगा आदमी', कुंतल कुमार जैन—'सेना, हमारा शरीर है', नंद चतुर्वेदी—'आग से भयाक्रांत यह जंगल', नरेन्द्र मोहन—'कविता: शहीदी बीड़', परमानंद श्रीवास्तव—'चीजों के बीच', प्रणव कुमार वंद्योपाध्याय—'आपात्काल मियाँ बशीरुद्दीन', वलदेव वंशी—'चुप्पी', पिरामिड', मणिमधुकर—'आपात्काल—१, २, ३', रमेश गौड़—'उसने कुछ नहीं कहा था', 'तव तक वहुत देर हो चुकी थी', रमेश रंजक—'धूप में कफ्यूँ लगाया है', राजकुमार कुंभज—'वच्चा वेचैन है', राजेन्द्र प्रसाद सिंह—'चौघेरों में बंद', रामदरश मिश्र—चिड़ियाघर', लीलाधर जगूड़ी—उदासी के खिलाफ', विनय—'पुनर्वास का दंड', विश्वम्भर नाथ उपाध्याय—'कुगति', श्रीकांत जोशी—'इसके पहले', श्रीराम वर्मा—'चार सौ साल बाद पृथ्वीराज का पत्र', सतीश वर्मा—'मेरी आजादी', हरदयाल—'दु:स्वप्न', कुमार विकल—'विपाशा', 'ट्रैफ़िक के नए कानून', पद्मधर त्रिपाठी—'अनुभव', वेणु गोपाल—तीन कविताएँ (पश्यंती कवितांक ७७), रमेश शर्मा—'किरायेदार', नचिकेता—'ताले जड़े हैं', ज्ञानेन्द्रपति—चीटियाँ', राजेश जोशी—'चमत्कारिक चाकू', हरीश पाठक—'सरहदें', विनोद शर्मा—'कत्लगाह', सुखवीर सिंह—'जंगल की वात', नरेन्द्र वसिष्ठ तथा धनंजय सिंह की गजलें।

अनहोनी घटनाएँ जव-जव अनपेक्षित विस्फोट के सामने आती हैं, अचंभित करतीं हुई—दहलाती और कंपित करती हुई या स्तब्ध-निर्वाक में धकेलती हुई, तव अभिव्यक्ति की अनेक ऐंद्रिक, भाषिक सांकेतिकताओं—मुद्राओं के सहारे सामने आकर अपनी पहचान कराती हैं। उक्त कविताओं में संघर्षशील विचार समकालीन कविता (देखें मेरा लेख—'समकालीन कविता : विचार कविता', मधुमती जून १९७७) में अपनी भूमिका को कारगर कर रहा है। इन कविताओं में समय की साक्षी है। ऐतिहासिक वर्बरताओं की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, व्यापक और गहरी भंगिमाएँ हैं, जो न केवल अपने कथ्य के लिए अपितु अपने कथन-रूपों में—कलात्मक संयोजनों में भी विशिष्ट हैं।

आज की स्थितियों में, फिलहाल, हिंसा की इस इतिहास-स्थापना में, सत्ता का हाथ हटा है, जैसा कि भारत का आम आदमी महसूस कर रहा है, किन्तु निहित हितोंवाला जन-विरोधी एवं परंपरित हिंसावाला हाथ अभी सक्रिय है, वल्कि अपनी कुत्सित मनशाओं को लेकर कुछ अतिरिक्त उत्साह के साथ। देखना है वह हाथ भी कव कटता है—और हिंसा का—सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, प्रत्यक्ष परोक्ष हिंसा का यह सर्वव्यापी दौर कहाँ-कव विराम लेता है!

कविताएँ

आत्मकथ्य

कविता के सम्बन्ध में मैं उन लोगों के साथ अपनी आवाज बुलन्द करना चाहूँगा जो यह मानते हैं कि कविता दिमागी ऐय्याशी, मनोरंजन व चौंकाने के लिये कतई नहीं है।

□ किशोर वासवानी
३७३, कोरेगाँव पार्क,
पुणे-४११००१ (महाराष्ट्र)

दो कविताएँ / **किशोर वासवानी**

कागज और आकाश

वह मुझे बासी नजरों से देखता था
मैंने उसकी आँखें काले काँच के चूर्ण से पूर दीं,
वह मुझे बदबू भरी गाली देता था
मैंने उसकी जुबान सुइयों से छेद दी,
वह मेरे बदनाम शीर्षक सुनता था
मैंने उसके कानों में सीमेंट भर दी,
अब मैं उसके चेहरे की तरफ़ देखता था
जो निस्संदेह घृणा से भरा था
मैंने प्लास्टिक सर्जरी की हँसी में उसे बदल दिया।
अचानक मैंने महसूसा
मैं खाली था
मेरे पास कोई सबूत नहीं था
और वह भरा हुआ था
अब उसका सोचना
प्रकाश, शब्द, ध्वनि व भाव से भी परे था,
मैं घबराकर कागज़ हो गया
पर वह पूरा आकाश था। ●

सत्य

उखड़े पेड़ के आसपास
प्रश्न घूम रहा था
यह कैसा असम्भव सम्भव है ?
इतना जवान पेड़ !
कैसे उखड़ा है अपने आप ?
सरकारी आदमी कर रहे थे प्रश्न
और बन रहे थे आलोचक
और पेड़ के टूटे अंगों को छूकर
खोज रहे थे उसका कमज़ोर भाग।
कुछ घंटों की बहस बाद
पहुँचे इस निश्चय पर
दुश्मनों ने मारा है पेड़।
पर, काली चमड़ी का गंजा बूढ़ा
चीख उठा
नहीं-नहीं देखो उन कीड़ों ने
जड़ से खाया है पेड़ !
सब ने विस्मय से देखा
ये कीड़े, तुच्छ कीड़े
कैसे खा सकते हैं—यह विराट पेड़।
बक़वास है
बुड्ढा सठियाया है
अट्टहास खा गया बूढ़े का सत्य।
अचानक मैंने देखा
एक तेईस मंजिली नव इमारत
अभी-अभी हिलने लगी
और रंग-बिरंगे लोग,
चीखकर उलटने लगे
नीचे भागने लगे,
जबकि
उसी इमारत की जड़ में
झोपड़पट्टी के काले लोग
हँसकर विचरने लगे।●

आत्मकथ्य

कविताओं को लेकर किस तरह के वक्तव्य की जरूरत है या हो सकती है, मैं आज तक नहीं समझ पाया···। कविता या तो कविता है, या फिर वह कुछ नहीं है। कविता को लेकर सारे विशेषण सारे वैचारिक आंदोलन लगाये गये किसिम किसिम की कविता के एकदम बेमानी हैं, बेमतलब हैं, बकवास हैं। फार्मूलों में लिखी जा रही कविता पढ़ता ही कौन है ? ऐसे में मेरा 'आत्म कथ्य' क्या हो सकता है ? कविता के और उसके माध्यम से अपने आपको सारे मैनरिज्म' से बचाये रखना चाहता हूँ, सारे फूहड़ फैशनों से। क्या यही काफी नहीं है। कविता मेरे लिये वैचारिक हिस्सेदारी/लड़ाई की पक्षधरता का एक प्रतीक है। अपने जीवन और कवि कर्म में ईमानदार बने रहना चाहता हूँ। मेरे लिये जीवन और कविता दो अलग-अलग चीजें नहीं हैं। हो भी नहीं सकतीं।

□ कृष्ण कमलेश

६४/११ (१२५० आवासगृह)

भोपाल—५ (म० प्र०)

तीन कविताएँ / कृष्ण कमलेश

आत्मप्रवंचक सच

सच मैं नहीं जानता ऐसा क्यों होता है
तुम्हारे इस शहर में न होने पर भी
तुम्हें तीव्रता से महसूसता हूँ।
नौकरी, बूढ़ी मां और किचन गार्ड की सेवा से लेकर
अपने को बहलाये रखने वाली
सारी व्यस्तताएँ खोखली और अर्थहीन लगने लगती हैं।
तुम जब होते हो, मैं नहीं होता।
ले कि न ···
ये सारी खोखली व्यस्तताएँ। व्यवस्थायें।
आरोपित व्यवस्थायें
मुझे और तीव्रता से नागपाश की तरह जकड़ लेती हैं।
सच मैं नहीं जानता—
तुम सच हो। तुम्हारी जकड़
या मैं

या ये आरोपित मायाजालं
या इस सबसे हट कर वह दुनिया।

बयान

कई बार मुझे अपने सच बोलने की वजह से
अपमानित होना पड़ा है
या खतरे उठाने पड़े हैं
मां से लेकर बीबी, प्रेयसी, बहिन या बेटी–
बाप। भाई। दोस्त या बेटा–
सब खूबसूरत झूठ बोलने और सुनने के आदी हैं
दफ्तर के चपरासी से लेकर बड़े बाबू और साहब तक
सब सच झेलने से परहेज करते हैं।
मेरे दोस्त! मैं अब वह नहीं बोलूँगा—
जो मेरा ज़मीर कहता है
मैं वही बोलूँगा–
जो लोग सुनना चाहते हैं
चाहें वह 'नाजायज़ सच' हो / या
मेरी आत्म हत्या का बयान।

यथावत्

कहीं कुछ नहीं बदला है मेरे दोस्त!
वैसी ही चमचमाती हुई कारें—
मुझे छूते हुये निकल जाती हैं–
और उसमें अकड़ कर बैठा हुआ–
मेरा बरसों का जाना पहचाना दोस्त–
न मेरे दोनों कंधों पर लदे हुये झोले देख पाता है
न मेरा बदहवास चेहरा, न मेरा लगड़ापन—
न मेरी अंधी मुन्नी!
अपाहिजों के लिये कोई बैसाखी नहीं बनी
अंधों के लिये, न देवनागरी लिपि, न ब्रेल लिपि,
न कुछ और।
कहीं कुछ नहीं।
किसी को कोई सहारा नहीं।

कुछ नहीं बदला है मेरे दोस्त !
मेरे सामने वाली दो मंजिला इमारत
चौ मंजिला होने जा रही है।

और बरसात में बाहर उतनी ही तेज़ बारिश है
मकान में उतनी ही दिलचस्प बाढ़
जितनी पिछले साल थी
या कि एक और गुजिश्ता साल थी।
कागज़ की नावें क़तई काम नहीं देती—
फिर भी उन्हें बनाता हूँ
मुन्नी को बहलाता हूँ।
मेरे भीतर एक अहसास अभी भी जिंदा है—
लंगड़ा हूँ तो क्या तेज दौड़ भी सकता हूँ,
दौड़ते रह सकता हूँ।

●

एक सदाबहार मरीज़ और चार नुस्ख़ानवीस

छविनाथ मिश्र

हम सब के बीच
सदियों से एक मरीज़
ज़ोर-ज़ोर से सांस लेता है
अपनी बीमारी का हर नुस्खा पढ़ता है
और पढ़कर फाड़ देता है
आए-गए, सैकड़ों नुस्ख़ानवीस
सिर्फ़ रह गए हैं कुछ नामी गरामी
दो चार, पाँच, दस, बीस
इनमें कई तो बेकार हैं
मुख्य सिर्फ़ चार हैं,

मरीज़ रात-दिन बोलता है
बाजुओं को हवा में तोलता है
बड़े-बड़े हकीमों से बेसबब लड़ता है
ग़ुस्सा उतारने के ख़्याल से अपने ही गालों पर तमाचे जड़ता है,
फिर किसी 'महान दार्शनिक' की मुद्रा में बड़बड़ाता है
'अबे, आत्महन्ता !
　　मूर्ख है जनता
　　उससे तुम्हारा क्या है रिश्ता
　　तुम क्यों रहना चाहते हो ज़िन्दा
　　आत्मा, अ-मरणधर्मा है, फिर किस बात का दुःख है
　　मरो या भाड़ में जाओ, भीड़ से तुम्हारी आत्मा का क्या ताल्लुक़ है'

मरीज़ की आँखों में ख़ून उतरने लगता है
नुस्खे को बार-बार पढ़ता है
और आदतन अपने बायें गाल पर कई तमाचे जड़ता है
कुछ देर बाद न जाने किस बात पर ऐंठ जाता है

सामने खड़े हकीम को ज़मीन पर दे मारता है
और सीने पर चढ़कर बैठ जाता है
फिर न जाने क्या सोचकर चहलक़दमी करने लगता है
सर के कई बाल नोचकर, हथेली पर रखता है
बार-बार नापता है
और किसी 'महान वैज्ञानिक' की मुद्रा में उन्हें बड़े ग़ौर से देखता है :—
'अबे, अपदार्थं जैसे पदार्थं !
क्या है, तुम्हारा स्वार्थं
आक्सीजन, हाइड्रोजन, कार्बन, कैल्शियम
और कुछ ऐरे-ग़ैरे तत्वों के योग !
तुम्हारा क्या है उपयोग
पदार्थ को न कोई बना सकता है, न बिगाड़ सकता है
देह, दिल, दिमाग़ सब कुछ मौत का चबेना है
सर खपाओ, चूल्हे में जाओ,
तुम्हें दुनिया से क्या लेना-देना है,
फिर तपाक से नुस्ख़ा-लिखे काग़ज़ को
नाक की सीध में रखकर, उँगली से छेद करता है
और ख़ुर्दबीन की तरह इस्तेमाल करते हुए
इर्द-गिर्द खड़े लोगों की छान-बीन करता है
कहीं कोई चेहरा नहीं—
हाथ-पांव, नाक-कान, प्राण-अपान, सब ग़ायब
परमाणु सिर्फ़ परमाणु, असंख्य परमाणु लबालब
देखते-देखते नुस्ख़े की ऐसी की तैसी
सामने खड़े हकीम की हालत भीगी बिल्ली जैसी
हकीम की पगड़ी मरीज़ के पाँव पर
और हकीम के पाँव हकीम के सर पर
मैदान ख़ाली—मरीज़ ज़ोर-ज़ोर से बजाता है ताली
अचानक कोई आता है,
मरीज़ संजीदा हो जाता है
और किसी 'यशस्वी राजपुरुष' की मुद्रा में एकटक कुछ देखता है—
फिर शिकारी कुत्ते की तरह झपटता है
और ज़ोर से डपटता है :—
'अबे नाकारा, हत्यारा !

जन-जन का मारा
तुम्हारा नाम नक़ली है, बता, आम है, या इमली है
लो, अभी काट देता हूँ पत्ता; तुम्हारी सत्ता—खरगोश की सींग
बड़े आए कहीं के धींग, बाप मर गया बेचारा बेचकर हींग
वाह ! तो तुम किसी युद्ध के नायक हो
झूठ, सफ़ेद झूठ—नालायक़ हो,
आदमी जब समझदार होता है, तब माओत्से तुंग होता है
या फिर हिमालय की तरह उत्तुंग होता है
तलवार की नोक से कविता लिखता है—
तब हो ची मिन्ह होता है
अपनी धरती का सुहाग-चिन्ह होता है.'
तुम्हारी सदा बहार बीमारी पर तरस आता है
गले में फन्दा लगाओ, ज़िन्दा रहो, या मर जाओ,
किसी के बाप का क्या आता-जाता है—
मरीज़ नुस्खे पर हस्ताक्षर करता है
और कई टुकड़ों में चीर कर हवा में उछाल देता है
न जाने किसका मुँह दिखा, सुबह-सुबह
हकीम नौ-दो ग्यारह !

अचानक किसी के खिलखिलाने की आवाज़ आती है
वह चौकन्ना हो जाता है
एक किरण देही आत्मा पास आती है,
मुस्कराती है—
और मरीज़ अद्वितीय विश्वकवि की मुद्रा में आंखें मूँद लेता है—
लम्बी सांस लेता है,
भाषण देता है—
'तो तुम्हारा नाम कविता है
यह हराम खोर तुम्हारा पिता है
जब देखो तब लक़ दक़ रहता है
बीमार है—बेहूदा है, नाटक करता है
ताक में हैं कुछ लोग—देखें यह कब मरता है
इससे यमराज और यमराज का भैंसा भी डरता है
रात दिन ऊँघता है

'किसिम, किसिम' के फूल सूँघता है
वेद भी पढ़ता है, लवेद भी पढ़ता है
क़ुरान भी पढ़ता है
पुरान भी पढ़ता है
बाइबिल भी पढ़ता है और सब का दिल भी पढ़ता है
अजीब है, ग़रीब है, मनमौजी है
इसकी बहू दुनिया भर की 'भौजी' है,'
इस बार आख़िरी नुस्खे को ध्यान से पढ़ता है
टैबलेटनुमा पुड़िया बनाकर ज़बान पर रखता है
दायां हाथ कविता के सर पर रखता है :—
'सुनो बेटी !
मेरा नाम ईश्वर है
न मैं मरीज़ हूँ—न मरणासन्न हूँ
स्वस्थ हूँ—प्रसन्न हूँ
जाओ,
तुम्हारा रास्ता साफ़ है
तुम्हारा हर ख़ून माफ़ है !!

●

द्वारा : श्री नवल
पंजाव नेशनल बैंक
३१, चित्तरंजन एवेन्यू
कलकत्ता

आत्मकथ्य

मुझे कभी नहीं लगा है कि कविता को मैं, माँग पर या चाहने पर लिख सका हूँ या लिख कर उससे संतुष्ट हो सका हूँ। कभी-कभी तो काफी-काफी दिनों तक जब कुछ नहीं लिखा गया है तो बेसब्र-सा होकर घबरा गया हूँ कि कहीं लिखना भूल तो नहीं गया हूँ। लेकिन···। इसीलिए अधिकारपूर्ण न सही, इतना तो कहा जा सकता है कि कविता लेखन के लिए प्रक्रिया के रूप में कुछ खास-अपेक्षाओं को जरूर पूरा होना होता है। कविता लिखने के दौरान भी कुछ आत्मकेन्द्रित से रूप में खास किस्म के घातों-प्रतिघातों के बीच से गुजरना पड़ता है। तभी तो कविता लेखन न ही मेरे लिए कोई पेशा है और न ही मैं उसे हर रोज 'होम-वर्क' की तरह विधिवत् कर सकता हूँ। एक बड़े कवि के बारे में जब मेरे एक मित्र ने बताया कि वे अभी-भी हर रोज दस-पन्द्रह कविताएँ लिख लेते हैं तो मुझे तर्क करने की अपेक्षा चुप रहना अच्छा लगा। कविता मेरे लिए फुर्सत, शौक या सुविधा की वस्तु नहीं है—हरगिज नहीं है। मैं इसे एक जरूरत के रूप में गम्भीर कर्म समझता रहा हूँ और निरन्तर, अनुभवों और उन्हें सही दिशा देने वालो तमाम ताकतों तथा अभिव्यक्ति की शक्तियों के महीन से महीन रूप की तलाश में जुटे रहना उचित समझता हूँ। मुझे उन लोगों से चिढ़ है जो किसी भी लेखन-कर्म की सीमाओं को बताने की बजाए गुटबाजी, स्वार्थो या ऐसे ही दूसरे कारणों से उसका मजाक ही उड़ा सकते हैं। और साथ ही मुझे ऐसे लेखकों पर दया आती है जो अपनी लेखन-शक्तियों में विश्वास पैदा करने की बजाए 'ट्रिकी' तरीकों से 'मित्रों' आदि के जरिए ही 'यश' लूटने की फिराक में रहते हैं। तब वे कुछ भी लिखते रहते हैं बल्कि सही मायनों में व्यापारियों की तरह माँग-पूर्तियों में ही लगे रहते हैं। मैं, अपने लेखन के समझे जाने और पहचाने जाने के लिए प्रतीक्षा कर सकता हूँ। पत्रिकाओं आदि में, मैंने हमेशा रचना की शक्ति के बल पर छपना चाहा है इसीलिए कभी भी अपनी रचना का अपमान नहीं होने दिया है। गिड़गिड़ा कर, या दूसरे तरीकों से, रचना को छपवाने की अपेक्षा मुझे अपनी कविता का सम्पादक की खेद सहित-क्षमा याचना के साथ वापिस लौटना बेहतर लगा है। यहीं, यह स्वीकार करते हुए मुझे हर्ष

है कि मैं विशेष रूप से छोटी पत्रिकाओं के माध्यम से ही साहित्य-क्षेत्र में आया हूँ—और छोटी (?) पत्रिकाओं को रचना देते हुए मुझे अतिरिक्त सुख मिलता है। मैं मेहनतकश जन की दृष्टि को ही एक सही दृष्टि मानता हूँ।

□ दिविक रमेश
बी-५७, अमर कालोनी
लाजपत नगर, नई दिल्ली-११००२४

दो कविताएँ / दिविक रमेश

सूरज का बेटा

एक शाम है
गले से लगीं बदनामी।

यह अन्धेरा
क्यों—किस लिए है
इससे
कोई वास्ता नहीं
ये पीते हैं अन्धेरा
ओढ़ते और बिछाते भी

बाँध-बाँध
रोशनियों के गट्ठर
ये बाँट आते हैं
अँधेरी दीवारों के बाहर
लौट आते हैं
विशाल
अँधेरे दरवाजों के पार,
हो लेते हैं सुरक्षित
दुबक
दुबक
काले पहाड़ की गोद में।

लेकिन
इन्हीं की कांक्षाओं को ढ़ोता हुआ
सूरज का बेटा
इनकी बस्ती से गुजर गया था।

तभी से
कहीं भीतर, कहीं भीतर
बेचैन तूफान
फूट-फूट
बहना चाहता है
नदी में बाढ़-सा।

उधर
हिल गयी है तमाम दुनिया
भूकम्प-सी।
इन्हें नहीं मालूम क्यों?
इन्होंने तो
सूरज के बेटे को
गुज़रते हुए देखा है
क़रीब से
इन्हीं की कांक्षाओं को ढ़ोते हुए।

आपकी अदालत में

आपको अचानक लगे
कि जिस मंच पर आप थे,
आप नहीं थे—
तो आप भी क्या नहीं चाहेंगे
कि फूँक डालें उन कठपुतलियों को
जो उगा दी गयीं थीं
आपके हाथों,
पैरों
और जबान पर।

और अगर यह अहसास हो जाए आपको

कि आप पर उगीं
कठपुतलियों का सूत्र भी
आपके नहीं
किसी और के हाथ था
तो क्या आप नहीं चाहेंगे काट देना उसे भी।

अब अगर मैंने भी ऐसा ही किया है
तो हुजूर बताइए
किस धारा की तहत
सजा देंगे आप

कम से कम मैंने
अपनी क्षमताओं का फायदा उठाकर
आपको तो नहीं नचाया अभी
कठपुतली बनाकर।

●

परिचय

जन्म—१९५२ में पिथौरागढ़ जिले के बेलकोट गाँव में।

शिक्षा—एम० ए० तक।

सम्प्रति—'स्वातंत्र्योत्तर कविता में मानव की अवधारणा' पर शोध कार्य।

लेखन—कविताएँ : हिन्दी और गुजराती पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित।

कहानियां : हिन्दी में

नाटक : हिन्दी व गुजराती में

दिवा पाण्डेय,
गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद

तीन कविताएँ / दिवा पाण्डेय

ख़ून

कल रात का खून केस
नंगी लाश बनकर
सो गया है इस सुबह के आँगन में।
खून ठीक बारह बज कर त्रेपन मिनिट पर हुआ,
ऐसा लोग कह रहे हैं।
बारह बजकर त्रेपन मिनिट पर मैं
कबीर के करघे पर बैठी
जिन्दगी का कपड़ा बिन रही थी
कि बॉबिन के भीतर के तार उलझ गये
ठीक बारह बजकर त्रेपन मिनिट पर,
एक कुत्ता भौंका,
बिल्ली ने उसका रास्ता काटा,
तोते ने छींक खाई,
उसके सात मिनिट बाद
टावर ने एक डकार ली।
और गली के सारे कुत्ते एक साथ भौंकने लगे।
भौंकते-भौंकते मेरे करघे को घूरने लगे।
वे मुझे सूँघ रहे थे।

बस इतना काफी है
और कुछ याद मत दिलाओ मुझे
मेरी लाश को नंगी करके सामने न धरो मेरे,
थोड़ा सा कपड़ा और बिन लेने देते
तो लाश पूरी ढक जाती।

लटकता हुआ

बहुत हुआ सरदार !
उतार दो इस बोझ को अब
यह गहराता समुद्र मेरे सिर पर न धरो
रोशनी की उल्टी न करो ऐसे
सूरज चुंधिया जाएगा।
इन स्नायुओं में
जहाँ नींद ही नींद भरी है
क्यों लावा रस का संचार करना चाहते हो ?
मैं भूल गई हूँ उन सबको
जो कल तक पाठकों के बालों की तरह
आँखों से जुड़े थे,
पलकों के बाल झड़ गये
सिर के बचे-खुचे बालों को मैंने काट दिया
सिर से नीचे को
अब एक लंबी सांकल बननी रुक गई है
लेकिन कुछ लटकता हुआ सिर के आस-पास
महसूस होता है बार बार।

इस दर्द को लेकर

इस दर्द को लेकर मैं कहाँ जाऊँ ?
भूतात्माओ ! मेरा पीछा कब तक करती रहोगी ?
मैं कब्र से उठकर वापस आ गई हूँ
कब्र मेरी तलाश में मेरे पीछे पीछे भटक रही है।

उसने चकाचौंध किया सृष्टि को
और मेरी आँखों पर झिल्ली डाल दी।
फिर उसने मुझे दौड़ाना चाहा
उसे नहीं मालूम कि मेरे पैर पेड़ बन गये हैं।
वह हवा बनकर मुझे धकेलता रहा।
वह आग बनकर मेरे अन्दर बैठ गया।
वह पानी बनकर मुझ पर बरस पड़ा।
जानते हो कितना धुआँ भर गया था सब ओर ?
और उसने चौकीदार बनकर सभी दरवाजे बन्द कर दिये।
फिर वह मोम बनकर दरारों में भर गया।
कहता था भाप निकल जाएगी।
तो गाड़ी चलेगी नहीं।

उसने मुझे रात की गाड़ी बनाया
और मेरी आँखों में झिल्ली लगा दी,
इस दर्द को लेकर मैं कहाँ जाऊँ ?
रात—सपनों के साथ मस्त है,
दिन—चित्रों में रंग भर रहा है,
आकाश—तारों को निखारने में व्यस्त है
धरती—पौधों को खिलाने में लगी हुई है
सुना है वह आजकल सूरज की परवाह नहीं करती।
सूरज उगे तो उगे
डूबे तो डूबे।
क्योंकि वह भोर के आँसू बिनने में संलग्न है।
इस दर्द को लेकर मैं कहाँ जाऊँ ?
श्मशान की अग्नि ठंडी हो गई है;
तीर्थों का जल मैला।
भोर का तारा मेरे जागने की राह देखेगा
ऐसा मुझे नहीं लगता।
मेरे पहुँचने तक वह आधा आकाश पार कर चुका होगा।
उस तपन में
मुझे बिना दीवारों की छत बन जाना होगा।
भूतात्माएँ छत के नीचे आराम करने लगेंगी।

यह कल्पना की बात नहीं,
यह सच बात है।
ऐसा अक्सर होता है।
फिर एकाएक वह तूफान बनकर मुझे घेर लेता है।
लहरें बनकर मुझसे टकराता है।
किसी चट्टान पर मुझे पटक कर चला जाता है।
मैं वर्षों तक बेहोश पड़ी रहती हूँ।
जागने पर
सृष्टि भर का सूनापन मुझमें समाने को आतुर हो जाता है।

इस दर्द को लेकर मैं कहाँ जाऊँ ?
मेरी झोपड़ी बहुत छोटी हो गई है।
दर्द का आकार इतना बड़ा है
कि दरवाजों के बीच फँस जाता है।
मैं न बाहर निकल पाती हूँ
न भीतर रह पाती हूँ।
कोनों में बैठे अँधेरे फैलने लगे हैं।
सूरज डूब गया है।
तेल तो है, बाती भी।
मेरे ही हाथ बँधे हुए हैं दरवाजों से।
इस दर्द को लेकर मैं कहाँ जाऊँ ?

यह अँधेरा मुझे खा जाय
पीछा करती छायाएँ मुझे दबोच लें
इससे पहले
मैं अपने दर्द को काले बादल बनाऊँगी,
बादल गरजेंगे—टकराएँगे,
कड़केगी बिजली
बरसेगी बिजली—झोपड़ी पर।
मैं भी जल जाऊँ शायद उसमें,
लेकिन जलने से पहले
मैं झोपड़ी के बाहर कूद पड़ूँगी—
एक बार छाती भर कर साँस लेने के लिए।

●

आत्मकथ्य

उत्पीड़क शासन-पद्धतियों और अराजक शासनहीनता के विकल्प की तलाश खत्म नहीं हुई है। हमारे मन की वे परतें भी कविता में खुलें जो खुले मंचों पर खुलने नहीं दी जातीं। अभिव्यक्ति की तराश का नया तरीका मुक्तिकामी आदमी के साथ सही जुड़ाव और विकास की तेज प्रक्रिया से गुजरे बगैर नहीं हासिल किया जा सकता। भाषा और कथ्य के सही आयाम एक दूसरे से अलग नहीं होते। कविता मेरे लिये दुनिया की नियति को सही तरतीब देने की कोशिशों में शामिल होने का एक जरूरी नज़रिया है।

ध्रुवदेवमिश्र पाषाण
४१/२ कैलास बोस लेन
रामकृष्णपुर
हवड़ा—१

दो कविताएँ / ध्रुवदेवमिश्र पाषाण

युद्ध

जब
खेतों की कोख में पलता रहता है नयी फसल का भ्रूण
भट्ठियों में खदबदाता रहता है फौलाद
खानों में काला रहता है सोना
और अमृत बरसाता रहता है पसीना
तभी
कीमतों को पक्ष में बनाये रखने के लिये
अखबार के पहले संस्करण को डमी की तरह
ऐय्याश दिमागों में जन्म लेता है युद्ध
और जहर बरसाने लगता है
आकाश

ऐसे तमाम युद्धों में आज तक मेरी ओर होने के बहाने
दुश्मनों के अनुकूल मोर्चे बनाते रहे तुम
और मैं
मोहाक्रान्त स्वजनों को नरभक्षियों की माँदों में
निःशस्त्र जाते देखता रहा चुपचाप।

प्याज़ की पर्तें तब्दील होती रहीं
कुत्साओं के व्यूह में।

कायर उम्र के कवच में छिपते रहे
और टावर के शीर्ष पर पहुँचने के लिये तुम
कुछ मासूम लोगों को सीढ़ियाँ बनाते रहे।

महत्वाकांक्षाओं की गंध से पागल कूटपुरुष के साथ
मिल कर तुमने
सात समंदर पार बसे महाप्रभु की तिजोरी में
बंद रख कर विवेक
निहायत ईमानदार लोगों को
युयुत्सा की आँखों पर बाँध कर पट्टी
बना डाला आत्महंताओं का गिरोह।
जो बाहर से ही नहीं—अंदर से भी युयुत्सु थे
सादगी उन के गले की फाँस बन गई।

दोषहीनता के दंभ और सही आदमियों की निरीहता के बावजूद
यहाँ न कोई भीम है
न कोई धृतराष्ट्र।
हत्यायें दफन होकर भी खामोश न हुईं
और तुम
पौ फटने की खबर पाते ही रास्ते की खाइयाँ कंकालों से पाट कर
चले गये कूटपुरुष के साथ महाप्रभु के देश जा रहे जहाज में।

अँधा न हो कर भी
युद्ध के महत्त्वपूर्ण क्षणों में उधार की आँखों से देखता हुआ मैं
इस लायक भी न रहा कि
सलीके से सजा पाता अपनों की चिता।

तुम्हारी घिनौनी साजिशों के बावजूद न रुकी
अँधेरे से प्रकाश की ओर बढ़ते
छापामारों की जय-यात्रा;
अभावों के बीच सीखी है उन्होंने
जख्मों का लहू चाट कर
लड़ने की कला।

रचाव

चौवाई की टकराहटों से टूट-टूट कर फैलती
रेत की बाहों में उफनती नदी के आस-पास खोलाबाड़ियों में
बढ़ता जाता है हिंस्र पंजों का कसाव।

अलावों की आँच
शीत से ठिठुरी हड्डियों को सुखा कर तैयार करती है
ऊर्जा की रफ्तार रोक रखने की खामख्याली में जलते
शमादानों की बत्तियाँ।

नये वेतनमान की घोषणा के साथ
काम से अलग किये गये लोगों के मुहल्ले में
कई दिनों से अदहन का गीत सुनने को तरसते कानों में
जहर बनकर उतरती है फैक्टरी के भोंपू की आवाज।

बर्फ के झोंकों से डर कर एक दूसरे का शरीर चूसते रहने को मजबूर
नर-मादा लेते हैं जिन में पनाह
किसलिये बनाई हैं वे कोठरियाँ
जिनकी दीवारों से माथा टकरा कर मरी
रोशनी और हवा की बेटियों की लाशों पर खड़े हो कर
लिख जाते हैं फौज के पहरे में स्मगलरों के एजेन्ट
रामराज्य और सामाजवाद की कुण्डलियाँ ?
घिसे हुये रथचक्र की तरह गतिहीन
अर्थचक्र के बदहवास सार्थवाह नियति से माँग रहे हैं

लम्बीं उम्र की भीखं,
समय की शक्ति और सत्य के साक्षी कम्प्यूटर खोल रहे हैं
धर्म और राजनीति की गाँठ ।

जन्मदायिनी की पीड़ा बेच कर
बाँझ वंश-वृक्ष हरा करने वाले दत्तकों के विश्वासघात के बावजूद
आदमी लड़ रहा है
छूत के सफेद कीटाणुओं से ।

पहुँचने के लिये आलोक-मणि के पर्वत पर
ज्यों-ही एकजुट होने लगते हैं पसीने से कसीदा काढ़ने वाले लोग
त्यों-ही विराटता के दंभ में निरंतर क्षय होता दस्युराट बन जाता है
'सर्वे भवन्तु सुखिन:' का शोर मचाता हुआ भोर के चहचहाते
पक्षियों के लिये व्याध ।

अपनों के कोरस से अलग डफली पीटने वाले हठी की टूटते ही साँस
अधजली सिगरेटें नाले में फेंक कर पान की जुगाली करते
फोटो खिंचवाते की मुद्रा में खड़े चमगादड़ बाँचने लगते हैं
विद्रोह और मुक्ति के बीच स्थितिप्रज्ञता का भाष्य ।

न तो दुर्घटनाओं से रुकता है घटनाओं का प्रवाह
न त्रुटियाँ सोख पाती हैं जीने का उत्साह ।

चरम तक पहुँची प्रसव-वेदना से छटपटाती रात
खरोंच कर अपना शरीर हो रही है
लहूलुहान;
चिमनियों में पैठ कर बादल बुझा रहे हैं
बोयलरों कीं आग
और धुआँ पीकर जीने वाले विश्वास बन रहे हैं
दुर्दमनीय हथियार ।
राजभवन की बालकनी से संत्रस्त आँखें
निहार रही हैं तमाम सुबहों से अलग
कविता रचती नयी सुबह का दृश्य ।

●

बन्धु···/ नागार्जुन

बन्धु, तुम धन्य हो !
अनुपम हों, अनन्य हो !

इतना अधिक आत्ममंथन
इतना अधिक कथित कथन, रोमन्थन
मन ही मन मस्सों से
इतनी अधिक सूखी खोलें निकालना
इतनी देर इतनी देर देखते रहना दर्पण
इतना अधिक दोहन स्वगत अनुभूतियों का
इतनी अधिक फेनिल जुगालियाँ—
नातिचिर पुरातनी स्मृतियों की···
इस प्रकार आलोड़न, आम्रेड़न
वैयक्तिक व्यथाओं के···
यह सब मुझसे तो न होगा
न, न, नहीं होगा यह सब मुझसे तो !
न उतना धीरज है
न वो शऊर है
यह सब मुझसे न होगा हाँ हाँ, नहीं होगा मुझसे
तुम्हीं से सधता है यह सब
सधता रहा है हमेशा
इसी से तो मानता आया हूँ तुमको अपना अग्रज
बन्धु, तुम धन्य हो !
निरुपम हो, अनन्य हो !!

●

आत्मकथ्य

मैं कविता को निरी व्यक्तिगत चीज नहीं मानता। व्यक्ति तक सीमित रह जाने वाली कविता हल्की-पुल्की उत्तेजनाएँ पैदा कर सकती है पर वह किसी गहरी संवेदना और विचार का बोध नहीं जगा सकती। महज वैयक्तिक आक्रोश स्नायविक तनाव से मुक्ति बेशक दे, ठोस संदर्भों में चरितार्थता के अभाव में उससे विद्रोह या संघर्ष की रचनात्मक भूमिका तैयार होने में बाधा ही पड़ेगी। इस तरह का रवैया हमें एक ओर अगर भावुकता और अनुभववाद की ओर ले जाता है तो दूसरी ओर रूढ़िभूत चिन्तन और कठमुल्लापन की ओर। मेरे विचार में यह एक तानाशाही रवैया है जो कवि के स्वयं को परिस्थितियों और संदर्भों से बड़ा और ऊँचा मानने और जतलाने से पैदा होता है। स्थितियों के प्रति भावुक हो कर या अनुभव की निरपेक्ष सत्ता मान कर आज के जीवन-विधान की पहचान देने वाले रचना-विधान को अर्जित कर पाना कठिन है।

मेरे लिए कविता बाहरी-भीतरी अनुभव-संसार का साक्ष्य, वस्तुओं और परिस्थितियों के टकरावपूर्ण संयोजन के माध्यम से देती है। इसे ही, दूसरे शब्दों में, अनुभव और विचार का विशिष्ट समीकरण भी कह सकते हैं। कविता के ज्ञानात्मक या वैचारिक बनने की संपूर्ण प्रक्रिया को भी इस दौरान ही आँका जा सकता है। मुझे लगता है आज की कविता का बुनियादी सरोकार और केन्द्रीय प्रवृत्ति भी यही है। जहाँ एक ओर कविता की भाववादी, रसवादी धारणाएँ निरर्थक हो जाती हैं तो दूसरी ओर आक्रोशपूर्ण आक्रामक दिखने वाली काव्य भंगिमाएँ असंगत या अतिरंजित हो जाती हैं।

कविता का वैचारिक होना कविता में विचार रखना नहीं है। यह कविता में विचार का विधान करना या विचार का रूपान्तरण करना है जिसकी प्रकृति द्वंद्वात्मक है जहाँ संवेदनाएँ परिस्थिति से टकराव की हालत में आती हैं और बदलती-रूपान्तरित होती हैं। परिस्थितियों से टकराव, संवाद और जिरह की पद्धति संवेदना को सम्पन्न और ज्ञानात्मक बनाती है और उसे संघर्ष और लड़ाई के योग्य बनाती है। संघर्ष और लड़ाई का यह अर्थ नहीं है कि हम विवेक गँवा बैठें, संतुलन खो दें या परिस्थितियों का सरलीकरण करने लग जायें। मानवीय सरोकार के निमित्त और आदमीयत की पहचान के लिए संघर्ष और लड़ाई

मूल्यवान हैं, पर उसके लिए कविता की विश्वसनीयता को बनाये और बचाये रखना भी ज़रूरी है। इस दृष्टि से, मुझे लगता है, व्यंग्य और विडम्बना के औज़ार काफी मदद दे सकते हैं। इन कविताओं में मेरा प्रयत्न यही रहा है।

—नरेन्द्र मोहन
के ५५, कीर्तिनगर,
नई दिल्ली—१५

तीन कविताएँ / नरेन्द्र मोहन

पितामह पेड़

•

चहलकदमी करता
आता है
र ा ज ा
और कहता पुचकारता
अ ा ज ा
अब ठीक है
सब ठीक है
कहीं कोई गड़बड़ नहीं
फूल-फल पत्तियाँ हैं
हरा-ही-हरापन है
मोटा सा तना
अन्दर तक दहाड़ता
भरा-पूरा पेड़ दिखता नहीं क्या ?
तुम्हें ज़रूर वहम हुआ है
यहाँ भैंसा नहीं है
साँप नहीं है
चमगादड़ नहीं है!
तुम डरे हुए लगते हो
मस्ती से झूमो
अपना ही जंगल है
निडरता से घूमो!
सनसनाती हवा में

उड़ती हुई पत्तियाँ
अलापती हैं राग
राजा सींगधारी है
सींगों से लहुलुहान
पेड़ जंगल में
फुंकारता हुआ
आता है
राजा
और चीखता
'हज्जाम'

भय से काँपता हज्जाम
ताकता है आसमान
दूर तक बीयाबान
भागता है पत्तियों के साथ
फुसफुसाता
पेड़ कहाँ है
पितामह पेड़ ।

बुहारते हुए

●

तुम जिस समझदारी और होश्यारी का सबूत
दे रहे हो
उसका संबंध क्यों जुड़ जाता है
हर बार
उसी पुराने विन्यास से
जिसे तुम पोसते रहे
बन्दर की तरह चिपकाये रहे
छाती से
ताउम्र !

तुम खुश हो रहे हो

बुहारते हुए
दायें-बायें-सायें
जब कि सामने
धुंधलायी जाने पर भी
बरकरार हैं चीजें
वहीं की वहीं
ठेठ और नग्न
तुम्हारी दकियानूसी में

तुम सामने की चीज़ों की
सक्रिय सत्ताओं और संयोजन गुणों कों
कैसे नज़र अन्दाज कर सकते हो
बुहारते हुए !

कविता : शहीदी बीड़

●

इस उजाले में
याद आती है
मुक्तिबोध की कविता
अंधेरे में !

क्या यह विकार है मेरा
संस्कार रूढ़ि या ग्रंथि कि
बेचैन हूँ
चैन और तरक्की के आलम में !

देखता हूँ
उजाले की शक्ल में
फैल रही धुंध
पसर रहीं उजाले की माया
अंधेरे को ओट किए

एक लौह टोप में
जकड़ा पड़ा आसमान
चाँद सितारे नीलिमा हरीतिमा
पेड़ और पत्तियाँ
उठते और गिरते हैं
ख्यालों में—

बाहर कुछ नहीं दिखता
सभी रंग बदरंग हों
घुलते जा रहे
अंधेरे में
पार्श्व ध्वनि उठती है :
'मर गया देश अरे जीवित रह गये तुम' !

देखता हूँ
न्याय, स्वतंत्रता, जनतंत्र की खाल ओढ़े
उतरती दिव्य प्रतिमाएँ
हर रोज़
गुनाहों को बख्शती
लताड़ती—सँवारती
दान मुद्रा में
लिपटी हैं इनके साथ
जोकरों की अनगिनत तस्वीरें
इन्हीं में एक तस्वीर लेखकराम

समझाते हुए बरजते हुए कहता है :
'संयम और संकेत से काम लो
जितना मूढ़ ढंग से कह सकते हो, कहो
राजनीति ! हाँ, देह की राजनीति में कूद पड़ो।'

सुनता हूँ सिर्फ़
चमड़े की तरह बज रही जुबान
बर्फ़ की तरह ठंडी पड़ी जुबान
उठती जुबान लरजती हुई

गिर पड़ी है ज़ुबान
यहीं कहीं
आस-पास

लगातार चमत्कार देखते हुए
हतप्रभ हूँ
गला फाड़ने के त्रासद क्रम में
स्थगित पड़ा हूँ
एक दैवी तमाशे में
सर्वग्रासी उजाला देख
अंधा हो गया हूँ

रोऊँ या हँसूँ
रोऊँ बतर्ज़ भारतेन्दु
'रोअहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई।
हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥'
और हँसूँ ऐसी संक्रामक हँसी कि
लोट-पोट हो जाएँ सभी

हँसने को होता हूँ कि
रोक देते हैं आप
जोखिम है कहते हैं आप
चीजें जब तनी हुई हों इस कदर
और बँधी हुई हों अनुशासन में
तब हँसने से तरतीब बिगड़ सकती है
और उसी के साथ वह सब कुछ···

हँसी एक खतरनाक कोण बना कर ठहर गयी है !
मैं कविता को
'शहीदी बीड़' की मानिंद
सर पर उठाए हूँ !

●

आत्मकथ्य

'यह सच है कि इस समय हमारी संस्कृति अन्धियारे के बीच से गुजर रही है, परन्तु इतिहास दर्शन के ऊपर यह दायित्व है कि वह इस बात का निर्णय ले कि जो अन्धियारा इस समय छाया हुआ है, वही हमारी संस्कृति की और हमारी अन्तिम नियति है, अथवा भले हम तथा हमारी संस्कृति एक लम्बी अन्धेरी सुरंग के बीच से गुजर रहे हों, अन्ततः हम उससे बाहर आयेंगे और प्रकाश के साथ हमारा साक्षात्कार एक बार फिर होगा।'

—जार्ज लुकाज

'इतिहास दर्शन' से उत्पन्न यह जिजीविषा निश्चय ही काफी कुछ इंगित कर जाती है। कल तक साहित्य, जिन रुग्ण, प्रतिगामी व आत्महंता प्रवृत्तियों का शिकार था निश्चय ही उनसे संघर्ष करते हुए उन्हें पराजित करते हुए आज जिन प्रगतिकामी, संघर्षशील व जनवादी मूल्यों को हासिल व स्थापित करने में उसे जो सफलता मिली है—आश्वस्त हुआ जा सकता है कि यह निरन्तर विकासोन्मुख-यात्रा एक दिन समाज और संस्कृति को अन्धियारी गुफा से निकाल कर-प्रकाश से साक्षात्कार कराने में समर्थ होगी! सम्भव है अन्धेरे, प्रतिक्रिया वा ऋणात्मक स्थितियों के पोषक-तत्व उन्हें बनाये व बना रखने की भरसक कोशिश करें लेकिन तब भी रोशनी, प्रगति व अग्रगामी-संघर्ष न तो स्थगित हुए हैं न हो सकते हैं!

बेशक इतिहास-यात्रा के क्रम में आलोचनात्मक यथार्थ तथा बुर्जुआ प्रभावों का अपना महत्व होता है व हमारे यहाँ भी रहा है लेकिन आज इतिहास ने पूरे समाज, साहित्य, दर्शन और संस्कृति को उस मोड़ पर ला खड़ा किया है जहाँ से आलोचनात्मक तथा बुर्जुआ दृष्टिकोण का संघर्षशील, सामाजिक व अग्रगामी विकास में रूपान्तरण टाला नहीं जा सकता! साहित्य और रचनाकार अब केवल तटस्थ दर्शक या मात्र स्थितियों का चितेरा ही नहीं बल्कि अपने सम्पूर्ण रचनाकर्म के साथ अब वह संघर्ष में हिस्सेदार व एक बहुत बड़े शोषित वर्ग का पक्षधर भी है! और यही वह 'मोर्चा' है जहाँ रचना व रचनाकार को निकष पर खरा उतरना ही पड़ता है जो कि एक निर्णायक-पहचान का रेखांकन करता है।

संक्षेप में यही वह सामाजिक-विवेक है जो रचना तथा रचनाकार का नियन्ता है, नियामक है जिससे मुकरना अपने वर्ग तथा अपनी जमात से विश्वासघात है। आधी रात गए जब मैं किसी 'समाचार' का प्रूफ पढ़ रहा होता हूँ / या पत्नी के साथ 'कव' की जद्दोजहद में लगा होता है या दोस्तों से साहित्य

की आवश्यकता व भूमिका पर बहस कर रहा होता हूँ-हर वक्त एक रचना-के रूप में उस 'तकलीफ' को व्यापक-सामाजिक-फलक पर फैलाकर देखने की कोशिश करता हूँ और यह स्वीकारने में मुझे संकोच नहीं है कि 'संघर्षशील-स्थितियाँ' मुझे एक संयम, साहस व लड़ाई का अनुशासन प्रदान करती हैं! जिनकी रचनात्मक-अभिव्यक्ति का प्रमाण मेरी रचनायें हैं। मैं रचना को व्यक्ति के रूप में टूटती स्थितियों से संघर्षशील सामाजिक स्थितियों में विवेकपूर्ण सन्तरण मानता हूँ।

अपने बारे में इतना ही कि—मैं एक निम्न मध्यवर्गीय किसान का बेटा और किसानों तथा श्रमिकों के हितों के लिए लड़ने वाला एक अदना-कार्यकर्ता होकर खुश हूँ। रचना तथा रचनाकार के रूप में अपना मत मैं बयान कर ही चुका हूँ और अपने विकास में सहायक, मैं दिवंगत मित्र कैलास जायसावाल के प्रति सदैव ऋणी रहूँगा। आज भी उसकी ये पंक्तियाँ मेरे भीतर एक रचनात्मक आग बनाए हुए हैं :

'उस पुराने मचान के / गलियारे वाले। बन्द कमरे में / एक कोने में / प्यानो रखा है। किवाड़ बन्द कर—उसे प्रत्येक स्तर पर / बजाना शुरू कर दो / बजाते रहो। बजाते रहो / बजाते रहो...जब तक कि / अगला संकेत / तुम्हें प्राप्त न हो जाए या तुम / मृत्यु से / प्यानो बजाती मुद्रा में / पथरा न जाओ।'

—निर्मल शर्मा

त्रयी प्रकाशन, दयानन्द मार्ग
धान मण्डी, रतलाम। (म० प्र०)

तीन आपात कविताएँ / निर्मल शर्मा

१

आप
रात को सोए हों
और कोई

आपकी साँसों की
चुपचाप
खरीद-फरोख्त कर ले / या

अजाने ही उन्हें
गैस-चेम्बर के हवाले
कर दिया जाए,
या / उनकी नीलामी की जाए,
या / इश्तहारों में
उनका मजाक उड़ाया जाय,
या / वे, मात्र
प्रहसन बनकर रह जाएँ—

और एन-सवेरे
जब, मुर्गा बाँग दे
या / चौपायों की घण्टियाँ
चरागाहों की ओर
जाती सुनाई दें / या
आपकी सबसे छोटी बच्ची
काठ की गुड़िया में बदल जाए
तब भी / क्या आपको
अपने होने
और जीवित होने पर
गर्व करना चाहिए ?

दादी सुनाया करती थी—
'पुराने जमाने में
एक /शहर हुआ करता था—
लंगड़ाए लोगों का शहर

टांगों के बावजूद
घिसट कर चलना / उनका
नित्य कर्म था।

वे / सम्पूर्ण शरीर होते थे
लेकिन / कन्धों से ऊपर
हवा—होती थी !

अर्थात्--

न देखने को आँखें
न सुनने को कान
न बोलने को मुँह,

न समझने को दिमाग
न प्रतिवाद को गर्दन
कुछ भी तो
नहीं होता था / वहाँ
उन लोगों के पास !

वहाँ होते थे--
अन्धेरे वृत्तों में
बेतरह घिसटते कबन्ध
और उन पर उग आई
पीली / तुड़ी-मुड़ी
तथा मजबूर हँसी !'
तीस गर्मियों में
झुलसने के बाद भी
दादी के किस्से वाला शहर
और वे डरावने कबन्ध
आज भी जब दीख जाते हैं
तो मैं गड़-सा जाता हूँ !

सूचना और चौकसी
फैली हुई है शहर पर,
शहर में तैरती अफवाहों पर,
लोगों के चेहरों और
बच्चों की मुस्कराहटों पर,
औरतों की / बिलकुल
घरेलू होती हुई जिन्दगी पर।
डरे हुए लोग
कुकुरमुत्ता बन रहे हैं।

कुकुरमुत्तों की
बम्पर-क्रॉप के इस दौर में
चमत्कार न सही
सहज ही कुछ होना चाहिए—

फिर भले वह
बच्चों का रोना हो / या
लोगों का मरना,
और मैं
भविष्य को ढूँढता हुआ
आगामी सतरों को
चीरने लगता हूँ

२

पोलो और
लड़कियों से खेलते हुए
हाथों ने

'सन्धि-पत्र' पढ़े बगैर
दस्तखत कर दिये,

पोलो और लड़कियाँ
गोरे साहबों के
पास चली गई,

और तब
ज़मीन छोड़ने का / एक
अहिंसक फ़रमान
जारी किया गया
पोलो और लड़कियाँ
उनके / समर्थकों में
बंट गईं।

रघुआ का बेटा
रामदीन—
अब तक
टिटहरियों को ही / अपना
निशाना बनाता रहा है !

३

एक यात्रा
जिसके बारे में
मुझे इतना पता है कि
वह
मेरे पुरखों से आरम्भ हुई है।
जिसे
अपनी बजबजाती हड्डियों
और उखड़ती साँस के बावजूद—
मेरे पिता
उम्र भर ढोते रहे,
आज भी ढो रहे हैं।
एक दिन नहाते समय
उनकी झुर्रियोंदार पीठ पर
मैंने—
कुछ पढ़ने की कोशिश की
और मैं घृणा से भर गया,
वहाँ-नीले निशान थे।
नीले निशानों की भाषा को
पढ़ने के मेरे प्रयास को
माँ भाँप गई थी / और
वह मन ही मन डर रही थी,
मेरी घृणा का मतलब
वह खूब जानती है।

तब मैं बहुत छोटा था
जब उस साहूकार ने
वसूली में
हमारा बैल छीन लिया था।
पिता को धकियाते हुए
माँ को अपमानित किया था
तब / दाँत भींचकर रह जाना
मेरी लाचारी थी;
लेकिन
चेतना सम्पन्न होते ही
मैंने पहला काम—
खातों में आग लगाने का किया
ताकि—
गवाह और पुरावों पर टिके 'न्याय'
(या कि जहालतभरी जिन्दगी)
के आतंक से
एक पूरा कबीला—साबुत बच सके।

पिता की पीठ पर उगे
नीले निशानों को / मैं
कई कई जगहों पर
देख रहा हूँ—
नन्दलाल के हड्डहे शरीर पर
रमेश के सीजते तनावों पर
क्षय से जूझते अवध की ठण्डी-आग पर
श्यामजी के सिर पर
अपनी माँ के बूढ़े शरीर पर
गरज ये कि पूरे परिवेश पर
उन निशानों को पाता हूँ
और गुस्से से भर जाता हूँ।

एक झटके से
अपनी यात्रा का रुख बदल देता हूँ

पिता और पुरखों की यात्रा के विरुद्ध ।
मेरे इस निर्णय पर
पिता बुरी तरह डरे हुए हैं;
माँ रो रही है—
"रे मूर्ख
समय से टकरा कर
भला कोई जिन्दा वचा है !
लौट आओ मेरे बच्चे .
हमारी 'यात्रा' में
हमारे चकत्तों और घावों के बीच ।"
दीवारों पर
कोयला चलाते हुए मेरे बच्चे से
पिता पूछते हैं—
'क्या कर रहे हो राहुल ?'
और उसका उत्तर होता है
'आदमी बना रहा हूँ ।'
उसकी आड़ी तिरछी लकीरों में
पिता भुतहा-कंकालों को देखते हैं / और
एक तमाचा जड़ देते हैं।
माँ उसे लपक लेती है
और बहलाती है—"आदमी वनाना
बहुत टेढ़ा व खतरनाक काम है ।"

मैं
इन वारदातों को भुला कर
काफी आगे निकल आता हूँ
पहाड़ियों के बीच / जहाँ
उनकी फुसफुसाहट तक नहीं पहुँचती ।
वहाँ पहुँचकर
पहले तो मैं / मित्रों की
फहरिस्त बनाने लगता हूँ
फिर—
उसे फाड़कर फेंक देता हूँ;

क्या वे अन्धे हैं
क्या उनका बोध मर चुका है या
उनमें पानी नहीं है
इन सारे प्रश्नों से बचते हुए—
मैं सियरामेस्ट्रा[1] सी फैली पहाड़ियों में
फोको[2] की योजना में जुट जाता हूँ।

यात्रा स्खलन के
इसी दौर में / कुछ
नए पुराने सहयात्रियों का साथ
मुझे गतिशील बनाता है।
और मैं
सक्रिय हो जाता हूँ—
यह जानते हुए भी कि
'यातना-शिविर' में / कभी भी
मेरी पत्नी के चीथड़े हो सकते हैं / या
मेरे बच्चे का
कभी भी
उम्दा कबाब बनाया जा सकता है;

मैं सक्रिय हो जाता हूँ।

●

---

१. क्यूबा की पर्वत-श्रृंखला
२. गुरिल्ला युद्ध की वह प्रक्रिया जो पूँजीवादियों और नवपूँजीवादियों को घुटने टेकने पर बाध्य कर दे।

आत्मकथ्य

मुझे आज भी नहीं लगता कि रचनाओं के साथ 'आत्मकथ्य' जैसी किसी चीज़ की ज़रूरत होनी चाहिए। क्योंकि अकसर 'आत्मकथ्य' कुछ और कह जाता है जबकि रचनाएँ कुछ और कह रही होती हैं।

आत्मकथ्य या भूमिका की वहाँ शायद ज्यादा ज़रूरत होती है, जहाँ किसी 'खास' विचार को केन्द्रित कर रचनाकार कोई 'बड़ी चीज़' देने की कोशिश करता है।

इसीलिए मेरे तईं अपनी फुटकर कविताओं के साथ किसी 'आत्मकथ्य' को देना कोई खास मतलब नहीं रखता। शायद इसलिए भी कि मैं अधपढ़ या अनपढ़ हूँ और अपने किसी 'बोझिल ज्ञान' को लादने या समझाने की मुझे कोई ज़रूरत महसूस नहीं होती या शायद इसलिए भी कि मेरे भीतर का 'अन्तर्विरोध' अभी तेज़ होकर नहीं उभरा या शायद, इसलिए भी कि अपनी रचनाओं को लेकर मेरे मन में कोई मुगालता नहीं है।

बहरहाल इतना ज़रूर कह सकता हूँ कि कविता कोई हथियार नहीं है, अधिक से अधिक वह किसी 'अन्तर्दाह' का या उससे 'मुक्ति' का इज़हार ज़रूर है···

नवल

पंजाब नेशनल बैंक
३१, चित्तरंजन एवेन्यू
कलकत्ता–१२

तीन कविताएँ / नवल

एक

मा, मुझे एक बार फिर वही कहानी सुनाओ न !
वही कहानी जिसमें खो गयी थी एक राजकुमारी
और कैद हो गयी थी एक राक्षस की अँधेरी खोह में
तुम कहती थी न—एक राजकुमार था, जिसने राक्षस को
मार गिराया था और उस राजकुमारी को छुड़ाया था।

कैसा लगता था, या, जब मैं कहता था कि एक दिन
मैं भी वह बहादुर राजकुमार बनूँगा और उस अँधेरे के
खौफ़नाक राक्षस को चीर कर राजकुमारी को छुड़ाऊँगा
और एक राहत का गीत गाऊँगा

मा, वही सुनाओ न कहानी, जिसे सुनकर
मेरी धमनियों में दौड़ता एक अंगार बन जाता था
नन्हें हाथ आज़ादी की रक्षा के लिए तलवार बन जाते थे

मा, वही सुनाओ न कहानी
क्योंकि वह राक्षस अभी तक मरा नहीं
जिसकी कैद में राजकुमारी दम तोड़ रही थी,

दो

अभी तो शुरुआत भी नहीं हुई मेरे प्यार की
न कविता की
न दम तोड़ने वाले इन्तज़ार की

बादल वैसे ही गरजते हैं
पानी वैसे ही बरसता है
बिजली वैसे ही कड़कती है
अकाश में वैसे ही रंग उभरते हैं
और तुम कहते हो कि कहीं कुछ फ़र्क आया है
या आने वाला है

शायद तुम सच ही कहते होगे
लेकिन यह भी तो सच है
कि नन्हें गप्पू की आँखों में
अब भी खालीपन है
उसकी नन्हीं फरमाइशें
उसके होंठों की थरथराहट बन जाती हैं
और मेरे लिए तब बादल, पानी
बिजली और आकाश का अर्थ
कुछ और हो जाता है

शायद फूल की तरह

एक मौसम
धरती की कोख में खिलेगा
शायद एक भयावनी रात की तरह
चीखती हुई कविता
किसी अँकुर की नोक पर दिखेगी
शायद ताउम्र यातना झेलते हुए
सिसिफ़स की तरह इन्तज़ार फूट पड़ेगा
अपनी लाचारी को
लगातार ढोते रहने के बाद

शायद यह न भी हो
शायद कुछ और ही हो
पर अभी तो शुरुआत भी नहीं

गप्पू ने एक बार पूछा था
—पापा, आजकल तुम उदास क्यों रहते हो ?
और मुझे चुप देख, वह सहम गया
फिर उसने कहा था—मेरी चुम्मी लो
उसकी आँखों में तब भी खालीपन था

शायद एक दिन
कोई कवि जन्म ले सागर के ज्वार में
बादल, पानी, बिजली और आकाश को
उनका अर्थ देता हुआ
पर अभी तो शुरुआत भी नहीं हुई है
दम तोड़ने वाले इन्तज़ार की…

तीन

जिनके लिए कविता
कविता रचने का बहाना है
यह सचमुच उनके लिए नहीं है

उनके लिए भीनहीं है यह
जो जिन्दगी को कई शर्तों में जी रहे हैं
एक धौकनों की तरह सांस ले रहे हैं

मेरे लिए तो
कविता एक साथ इतिहास और भविष्य के
अनबूझे पृष्ठों का अनुवाद कर देती है
और मुझे
चौराहे पर निरस्त्र खड़ा कर जाती है

खड़ा कर जाती है निस्तब्ध
भाषाहीन संवाद के कम्पनों को झकझोरती हुई
अंधे की आँखों में आने वाले दिनों को
तराशती हुई, बेहिसाब हलचलों को गुजारती हुई
मुझे संवेदित करती
संज्ञाहीन कर जाती है कविता···

कविता किसी बात का जवाब नहीं
वह तो मेरी चुप्पी का सिलसिलेवार बयान है
जैसे हेमन्त में
सूखे पेड़ों की डाली से झूलता हुआ पत्ता
या रात के सन्नाटे में
पुल पर धड़धड़ाती हुई ट्रेन की
झकबुझ रौशनी में उनींदा पानी–
जिस पर नाचती रहती है कविता
काँपते हृदय का सहारा बनती हुई
कविता क्या होती है।
यह तो मैं खुद भी नहीं जानता····

आत्मकथ्य

जन्म : १० अक्तूबर १९५३, जोधपुर (राज०)

शिक्षा : इंग्लिश-लिट्रेचर (ऑनर्स) लेकर कला-स्नातिका,

सम्प्रति : राजस्थान प्रदेश के शिक्षा-विभाग से संबद्ध

लेखन कार्य : अनेकानेक विधाओं में लिखी गईं बहुत सी रचनाएँ प्रायः सभी जानी-मानी पत्रिकाओं में प्रकाशित। आकाशवाणी का माध्यम भी मिला है

प्रकाशनाधीन पुस्तकें : 'दर्द के आसपास' (कविता-संकलन) 'अहसासों के बीच' (लघु-कथाएँ) 'नीले-नीले फूल' (कहानी-संग्रह) 'आकांक्षाओं के आकाश' (आलोचनात्मक-ललित निबन्ध.)

आत्मकथ्य : (आत्म-श्लाघा हरगिज नहीं !)

मेरे लिए, लेखन आम आदमी की जिल्लत-व्यथा के समूचे अहसास को बड़ी तल्खी से शब्दों में उकेरने की—उसे आकृति देने की ईमानदार कोशिश है। यह लेखन बाहर और अन्दर के बीच चलने वाले संघर्ष को 'रिएक्ट' करता है—जीवन के समांतर ही संघर्षपूर्ण स्थितियों में से गुजरने की एक प्रक्रिया है मेरी रचनाएँ जिन्दगी और अनुभूति के कई स्तरों पर चलती हैं और नये संदर्भों का आकलन करने का प्रयास है। यह उस आदमी की तलाश है जो एक बेहतर मान-वीय जिन्दगी के लिए लड़ते हुए टूट रहा है और टूटते हुए लड़ रहा है। मेरा 'कवि' समय की प्रबुद्धता से जुड़ा हुआ है। आज की सभी विडम्बनाओं और विसंगतियों को स्वयं भोग रहा है। अपने परिवेश के प्रति आंतरिक और बाहरी दबावों और तनावों एवं संघर्षों से ग्रस्त और त्रस्त है। वह इस युग का लहू-लुहान योद्धा है। अपार भीड़ में अपने अस्तित्व की नगण्यता के भरपूर अहसास से उसका मोहभंग हो चुका है। इसी से भोगी हुई जिन्दगी का कड़ुवापन उसकी अभिव्यक्ति में है। आलंकारिक सौन्दर्य के भ्रम में शब्दों के जंगल में भटकने का उसे लेशमात्र भी मोह नहीं है।

—पुष्पलता कश्यप

कचहरी पोस्ट ऑफिस के निकट
ज़ोधपुर-३४२००१

तीन कविताएँ / पुष्पलता कश्यप

कोई संभावना नहीं है

पुल के जंगले पर दो हाथ छाती से बँधे
दो हाथ सामने फैले
और दो हाथ धुँधले आसमान की ओर उठे हुए
इन तीन जोड़े हाथों में से किसी एक को रखकर
शेष को मिटा दीजिए
तब भी किसी फैसले पर पहुँचा नहीं जा सकता
आज और आज में भी अधिक कल की
सामाजिक स्थितियों में उनका मतलब
सुविधा नहीं, बंधन है
इस अत्यन्त तीखे अन्तिम तत्व को
गले के नीचे उतारने के बदले
पूरे तमाशे को नैतिकता से उलींच कर
इन्तजार कीजिए
इस क्षण तो आप एकांतवास के अन्तिम छोर पर
खड़े हुए कल्पना कर रहे हैं
विश्वास कीजिए जल्दी ही आप पायेंगे
वे सब प्रेत उतने ही अवास्तविक हैं।
जितने कि बच्चों की कहानियों के नरभक्षी दैत्य
और सोने के पिंजरों में बन्द खूबसूरत राजकुमारियाँ
रत्न-जड़ित लॉकेटों को ओठों में दबाए हुए
कितने मजे की बात है
उस भविष्य ने अपना सिर झुका दिया
हमें परिशिष्ट में डाल कर
जो मृत्यु से पूर्व हमारी प्रतीक्षा किया करता था।

यादों के फॉसिल्स

आने वाली मुसीबत की निःशब्द चेतावनी छोड़कर
वह रात की खिड़की पर दस्तक देकर गायब हो गया
न जाने कहाँ चली गई अभ्रक-सी चमक

बिल्लौर-पत्थर फीका पड़ गया
और पैरों के नीचे दबकर रह गया चंचल स्वप्न
अनेक बार ऐसा होता है; भीतर की तह में कई दराजें
गतिशील होने पर खटकती हैं
बेतरतीब विचारों के गहरे नीले फूल
लटक जाते हैं खामोश गरदन झुकाए हुए
और पिघलती हुई रोशनी-सी मीठी स्मृतियाँ
चुपके-चुपके थिरकती हैं :
'वह तालाब पर गया और खूब तैरा
फिर एक और तालाब पर मैंने पाँच छोटी मछलियाँ पकड़ीं
: उसे मछलियाँ पसंद थीं—
इसके बाद हमने पिक्चर देखी और बेहद उदास हो गए'
उत्सुकता के बीच स्मृतियों ने मुझे रोका
और मैंने फिर सूत्र जोड़े :
'उसने ताजमहल देखा नहीं था,
या फिर ट्रेन पकड़ने की जल्दी में अधूरा देखा होगा
उससे ताजमहल की बातें क्या करें ?'
देर तक धुआँ ढँकता रहा नन्हें-नन्हें क्षणों को
फिर शर्मिंदा होकर उन्हें जगह दे दी :
'पहाड़ी-रास्ते की घुमावदार पगडंडी-सा
समाप्त प्राय : मालूम पड़ता था सुख
पर, क्रम श्रृंखला के रहस्य पर्त पर पर्त खुलते जाते थे
मेरे चेहरे और मेरी प्यास के बीच
'माइनस' का निशान आकर फँस गया था
बीच सड़क पर दुर्घटित होने से बचा था स्वत्व
रोशनी तब मेरे चश्मे में नहीं थी,
अब तो अपनी ठुड्डी को पकड़े
'करीब-करीब उसे निचोड़ देने की मुद्रा में'
मैं दूर निकल गए मस्तूल को देखती हूँ :
शायद वह 'सनकी-क्षण'
एक साथ प्रसन्न और कटु दोनों था—
'वह अपनी टोपी को उठाता, सामने झुकता
और स्वर पैदा करता था—छोटी काली हथेली को फैलाकर

वह मूकाभिनय कितना भी संजीदा या तुच्छ क्यों न हो
'सब कुछ' एक ही धुन पर नाचता था
और उसकी गंभीर हरकतों के बावजूद
कोई नतीजा नहीं निकल पाता था
मामले का अजीब पक्ष यही था
सब कुछ उसी स्थिति में आ रहता
जिसमें वह अक्लमंद बनने की हास्यास्पद जल्दबाजी में होता था'
सारा इतिहास मूल्यवान वस्तुओं के विनाश की कहानी होता है
'प्रकाश-रेखा बनाते हुए उनका टूटना, ओझल होना
और घोंसले से फेंक दिए जाना'
मैं उन सारे अनुभवों को पुन: अपनी दृष्टि से देखना चाहती हूँ
मेरी प्रसन्नता का यथार्थ यही है।

सपनों की जाली

जानती हूँ सुबह होते न होते
उसके और मेरे दरम्याँ एक और स्वत्व खो जाएगा
संजीदा होकर मैं उस छाए हुए माहौल से
कुछ चुनने की कोशिश करती हूँ
मेरी उंगलियाँ बुनती हैं, बुनती हैं
यह सब एक सपना होना चाहिए
एक सपना···सपना
मेरी प्रसन्नता दूसरों की दृष्टि से बचना चाहती है
पर चमकती आँखें हृदय के भेद खोल देती हैं
और सब शब्दों में एक-सा अर्थ सिमट कर आ जाता है
उस चेहरे की आवाज, ,आँखें अवसाद मुझे सब कुछ पसंद है
मगर भीतर, उदासी धुएँ की भाँति उमड़ती है
जो ढीठ और जिद्दी माशूक की तरह मजा किरकिरा कर देती है
मगर मैं जिन्दगी के इस भाव पर ही मुग्ध !
क्योंकि कोई खामख्याली भी कभी-कभी
अपने को किसी भी खुशी से बड़ा साबित कर देती है
और नाटक के कटे-छंटे सुन्दर टुकड़ों-सी बारिश
में मचलती अनेक खूबसूरतियाँ

चट्टानों पर भी कुछ निशान, कुछ खरोंचें
छोड़ जाती हैं
हाय ! खुली खिड़की-सा उसका स्वभाव !
और बचने की कोशिश में निष्प्रयोजित, ऊसर
स्मृतियों की शिकार मैं।
सपनों की जाली से सटकर मैं कुछ देख रही थी
मगर वहाँ, वह कौन है, मैं नहीं जानती
वह मुझसे मेरा मकसद पूछ रहा है
और कॉफी के प्याले के साथ-साथ
टेबल पर मैंने अपने इरादे फैला दिए हैं :
'सही या गलत, कुछ दूर तक वैसा ही कुछ जीने दो
जो अर्थहीन न हो
अर्थहीन तो मैं ही हूँ और मुझे सार्थकता ढूँढनी है
कहीं भी

कोई भी टूटन किस जगह से चिपकती है
और कब वह किस जगह से खड़ी होकर घूमती है
मैंने रेशमी स्वप्न बुने इन्द्रधनुषी-रंगीन
सब अधूरे निकले !

जले हुए टोस्ट सी जल गई जिजीविषा
और जल गया हवा में सब कुछ
भूत भूत भूत
मुझे हर कोई भूत नजर आता है
मेरी मजबूरी यह है, मैं शून्य से निकलना चाहती हूँ
मन छोटी-छोटी बातों पर झुंझलाता है
मेरे इर्द गिर्द द्रोहपूर्ण सब कुछ
अपने अन्दर के दृढ़ सत्य को व्यक्त करने के लिए
वारिश की उम्मीद बंधाने वाली उमस
शब्दों के घेरे में बँधी है'
जिन्दगी न तो फौलाद, न हीरा
ज़िन्दगी एक वातावरण है
और, अब केवल अपनी प्रतिध्वानियाँ लौटाता
धुँधलका हट रहा है, बस ! ●

वक्तव्य के बहाने मित्रों से बातचीत / बलदेव वंशी

'कविता होती है !'

(अपने आप ?)

'उसे होने दिया जाए !'

(हवा में ही !)

'इस होलेने में भी एक अंदाज है !'

(क्यों ठीक है न भाई परमार ?)

यानी जैसे भी फिसल कर बहती हो

उतरती हो

या किसी चौड़े गड्ढे को छलांगते हुए उछल जाए

या बीच में ही गुम जाए

जैसे भी दाव लगे पटक लो, सौमित्र

तब काले में, कागज की सफेदी पर जो

बहुत कुछ रह जाता है आते-आते

(वह भी क्यों न आ लेने दिया जाय

यानी पों-पों, भों-भों ?)

उस छूटे-छूटते हुए के लिए

रोने वाले भी बहुत मिल जायेंगे, प्यारे !

या यों भी क्यों न लिख लो :

क

वि

ता

हो

ती

है

उ

से

हो

ले

ने

दि
या
जा
ए
!
और पार्श्व में या पावों के नीचे
उसकी जमीन को ऐसे बिछा दो
कि पूरा ढाँचा खड़ा-पड़ा मुतियाये
शब्दों को आगे से लो
या अर्थों को पीछे से
किंतु मित्र !
कविता नहीं होती ऐसी या वैसी
कविता या तो कविता होती है
या फिर कुछ नहीं होती

आदमी की धड़कन के समांतर
कविता में होती है धड़कन

वैसे भाषा के पिछवाड़े तो बहुत हुई है ऐसी-तैसी
टाइपराईटर की बेतरतीब टिकटिकी तक तो ले गये थे मुद्रा
ध्वनि-विसंगों पर ठेलते
तुम ठोस ध्वनियों को बाँधते-जीते हो शब्दों के ठोस में
जब कि किसी भी ठोस के प्रति
खुला हंगामा होती है कविता

दिन-दिन निचुड़ते-बुसते
इस आदमी के लिए तुम्हारे पास क्या है ?
बिगड़ते-घातक मौसम में
तुम कुछ ध्वनियों, शब्दों वाक्यों को भी
अलग-अलग हाँक रहे हो
भाषा या आदमी के
किस वर्जित प्रदेश में झाँक रहे हो ?

कविता को होने दो आदमी की तरह
सहज

आदमी के लिए
उसके होने को आदमी के होने से जोड़ो
बीच के व्यर्थं बंधों को आत्मीयता से तोड़ो
फिर चाहे कमलेश कविता में
प्रकृति को ले कर मिथ में लौट जाए
या जगूड़ी पहाड़ों में
मणि मधुकर रेगिस्तान में
श्रीकांत वर्मा इतिहास में
रघुवीर अखबारनवीसी में
कोई महानगर या उपनगर में
परन्तु नादान हाथों की तोड़ फोड़ में टूटती
या जगदीश चतुर्वेदी के गले में फँस कर भौंकती
कविता दुम हिलाती पालतू कुतिया नहीं होती
न वह शब्दों को फेंट कर कमर के साथ बाँधी जा सकती है
न शब्दों से ऐंठ कर कवायद करवायी जा सकती है
कुछ मित्रों ने एक बात उठायी है
(कविता नहीं)
जीवन के समांतर, साक्षी में
और कविता बन गई
(बनने की तरह नहीं)
जिसे राजीव कुमारेन्द्र, ओमप्रकाश निर्मल, धूमिल, रमेश गौड़,
श्रीराम वर्मा, ऋतुराज ने सहेजा उभारा है। चिर-विस्मृत
मानवी संबोधन से पुकारा है
वैसे कविता की उसारी में, दीवारों में
जहाँ ईंटों की जगह गुड़ की भेलियाँ ठोंक गये हैं चौधरी
वहीं मक्खियाँ चिपकी हैं ज्यादा रस लोभी।
और बात का क्रम टूटा है
रोता-मरता आदमी, छूटा है
कविता मौन हो गई!
तुमने उसे व्यर्थता के मौन में घसीटा है
(मौत की सर्द चुप्पी या अहसास से जोड़ना भी एक बात होती!)
छिन्न नागों की बुरें जगह-जगह उचट गयीं हैं
(यह तो कोई बात न हुई। और कविता ?...)

इने-गिने शस्त्रागारी शब्दों में
फैशनी लड़ाई के तुर्रे के साथ काव्यादर्श
कब तक चिल्लाते रहोगे वेणुगोपाल
कविता वह है जो बात को साथ लेकर चले
केवल लड़ाई के थोथे रोमान में न ढले
स-क्रांत चेतना में विकसित हो
अकेले-दुकेले संघर्षों के दंभ में न गले
वह आदमी के बैठते हौसले और साँसों के साथ
खड़ी-खड़ी सयापा न करे
न उसे चारपायी से नीचे उतारने की तत्परता में रुकी
हाथ-पैर मले
नफर का पर्याय नहीं है समूचा आदमी
एक आत्मीय कविता है पहले !

बलदेव वंशी
मकान नं० २९४१, रणजीत नगर
नयी दिल्ली—८

दो और कविताएँ / बलदेव वंशी

खेतों की सभ्यता

यह मिट्टी ही तो है
जो पानी और ताप पी कर साँचों में ढली है
नम्बरी ईंटों में व्यवस्थित

सभ्य इशारों पर हुनरमंद हाथों ने
इन्हें जड़ दिया है शहरी इमारतों की दीवारों में

और यह गच-गारा भी तो मिट्टी ही है
जिसने पानी पी कर बांध रखा है ईंटों को एक साथ
तब कहीं दीवार, दीवार बनी है
भवन, भवन : वह पर्दा
जिसके पीछे सभ्यता का तंत्र ढलता है
बे-रोक। कामकाज चलता है—नागरी

इन उठी इमारतों में
मंज़िल-दर-मंज़िल
कमरा-दर-कमरा
दीवार-दर-दीवार
ईंट-दर-ईंट
आदमी-दर-आदमी ठुंका है
बहुमंज़िली इन इमारतों में पुख्ता
जकड़बंदियों में

कभी-कभार फिर
समय-खायी नीवें
रेह-खायी ईंटें
खुल पड़तीं हैं अर्रा कर ढेर होतीं

आने वाले भू-डोल के झटकों में
बे-शक डोलती हैं इमारतें
हिलते हैं सभ्यता के सिंहासन
तब फिर ये दीवारें मिट्टी होती हैं
और गारा भी
और आदमी भी···पुनः···

मिट्टी
बँधी-खुली
एक चक्र करती है पूरा। तब!
मज़ा यह है कि भू-डोलमापी यंत्र मूक
केवल झटकों की गंभीरता करता है दर्ज
बाद में

सवाल यह है कि हुनरमंद हाथों द्वारा यह मिट्टी
हरे भरे खेतों को उजाड़ कर
ईंट-दीवार-इमारत वाली सभ्यता को
क्योंकर करती रहे आबाद
छद्म कारोबार में क्योंकर लगे—लगती रहे?

मायूस मिट्टी होने का क्रम यह
उलटा भी तो जा सकता है

अकलमंद हाथों द्वारा
लहलहा सकती है खेतों की सभ्यता
खुली ! हवादार ! सूर्यमुखी !
ग़ाँवों की संस्कृति

तब भू-डोल की प्रतीक्षा में रुका रहना
क्योंकर ज़रूरी है
जबकि ईंट-दर-ईंट
दीवार-दर-दीवार
आदमी-दर-आदमी
सभ्यता-दर-सभ्यता
बे-पर्दा हो चुके हों
और भीतर चल रहा व्यापार
खुली सड़क के भाव से
उतर चुक़ा हो—
नीच !

पिरामिड

'तुम क्या कर रहे हो ?'
'पत्थर ढो रहा हूँ।'
'तुम क्या कर रहे हो ?'
'मिट्टी भिगो रहा हूँ।'
'तुम क्या बना रहे हो ?'
'दीवार बन रही है।'
'तुम क्या घड़ रहे हो ?'
'मूरत बन रही है।'
'तुम कहाँ जा रहे हो ?'
'राजा ने बुलाया है।'
'वह कैसे ?'
'उत्सव मनाया है।'
एक पर एक लहर
जनता घिर रही है उत्साह में
सदियों उधर

एक पर एक लहर
जनता गिर रही है उत्साह में
सदियों इधर
लोग काम में जुटे हैं
बिना जाने कि वे क्या बना रहे हैं
लोग जा रहे हैं
बिना जाने कि वे कहाँ जा रहे हैं
सिर्फ राजा जानता है
कि यह पिरामिड बन रहा है
'होगा !'
सिर्फ राजा जानता है
कि पिरामिड के ऊपर एक चेहरा होता है
होगा !
सिर्फ राजा जानता है कि वह चेहरा इन्सान का
और धड़ शेर का होता है
होगा !
सिर्फ राजा को यह सब पता है
सदियों उधर
सिर्फ राजा ही यह सब जानता है
सदियों इधर...

चुप्पी

चिरते हुए देवदार की गंध को
आरे की भाषा में नहीं
मनुष्य होने की तमीज़ में पहचानते हुए
मैं जंगल में चुप हूँ

सामने देवदार फटने का दृश्य है
एक समय था जब देवदार भी चुप था
और कीकर काट रहा था
गंध तब भी थी
और आरा भी

पेड़ और आरे के मध्य फैले
प्रकाश-वर्षों को
कुछ हाथों में बंटा देख
तब कीकर भी चुप था
आज मैं

जब जब हवा बही है तेज
आवाजों का जुनून
यों ही खत्म हुआ है
आरे पर
और बगल में बहती नदी के ढलानों पर
ठठ्ठ के ठठ्ठ
मजबूत लट्ठे
ऐसे ही लोट-पोट गुजरे हैं साक्षी में

पेड़ तब भी चुप थे
लगभग स्तब्ध
पेड़ आज भी चुप हैं !

●

आत्मकथ्य

अभावों में गुजरी जिन्दगी बराबर व्यवस्था के दबावों को झेलती रही तथा यह महसूस करती रही कि जब तक पूंजीवादी-सामंती व्यवस्था मूलभूत रूप से नहीं बदली जाती तब तक अभाव, और अपमान और दमन से आम जनता निजात नहीं पा सकती। इस परिवर्तन की भूमिका में प्रगतिशील शक्तियाँ ही सहायक हो सकती हैं। ये ही वे शक्तियाँ हैं जो व्यवस्था से जूझ सकती हैं और पतनोन्मुखी शक्तियों को अन्तिम रूप से समाप्त कर सकती हैं। प्रगतिशील शक्तियों को रेखांकित करना, उन्हें प्रेरणास्रोत बनाना, पाठक में उनके प्रति संवेदनात्मक-विचारात्मक भावभूमि तैयार करना; साथ ही पतनोन्मुखी शक्तियों (जो कभी कभी काफी शक्तिशाली प्रतीत होती हैं) पर निर्मम प्रहार करना ताकि जीवन की अविरल धारा सुन्दरतम उपलब्धियों की ओर अग्रसर हो सके। यही मेरे लेखन का अभीष्ट है। भावनाओं (emotions) की तीव्रता में कुछ कर गुजरने की छटपटाहट/बिचैनी होती है, उसकी अभिव्यक्ति कविता में ही नहीं मजदूर संघर्षों में भी होती है।

भगीरथ
C 3, A-82 फेज दो,
रावतभाटा (कोटा) राजस्थान

तीन कविताएँ / भगीरथ

संघर्ष

लोकतांत्रिक एवं
ट्रेड यूनियन अधिकारों की बहाली
(जो हमने एक लम्बे संघर्ष के बाद हासिल की है)
और फिर, सुनियोजित तरीके से
हड़ताल रोकने के लिए
मिनी-मीसा का इस्तेमाल
समझौता वार्ता के लिए
'बिना शर्त हड़ताल वापस लो'
की शर्त
हड़ताल होने से पहले
उसे गैरकानूनी घोषित करना
जन-धन की हानि की आशंका के

नाम पर
हड़ताल के दूसरे / तीसरे दिन
धारा १४४ लगा
हमारे न्यायोचित संघर्ष को
तोड़ने की साजिश
झूठे पुलिस केस के अन्तर्गत
जुझारू मजदूरों की गिरफ्तारी
और नहीं तो
गुंडों द्वारा हम मजदूरों पर
फायरिंग
ठेकेदारी प्रथा की मजबूती
लोकतांत्रिक समाजवादी व्यवस्था में
शोषण की छूट !
मजदूर को
फेक्टरी की लेबर / ठेकेदार की लेबर
रेग्यूलर और डेली रेटेड लेबर में बाँट
उन्हें एक दूसरे के विरुद्ध
खड़ा करने की मज़दूर विरोधी साज़िश
आर्थिक विवशताओं में छटपटाता मजदूर
बेकारी की बढ़ती फौज का भय
यानी कि डराती-धमकाती व्यवस्था
हमारे घुटने तोड़ने की कोशिश करती है
बावजूद इन सबके
संघर्ष और तेजी से आगे बढ़ता है
तब
भुगतना पड़ता है
पुलिस का सेडिस्ट, यातनाजनक नरककुंड
या मुठभेड़ में मार दिये जाने की घोषणा
और इसके समान्तर, चलता है
मजदूर एकता और संगठन को कुचलने का
पूँजीवादी कुचक्र
चार्जशीट, सस्पेंशन मुअत्तली
तालाबन्दी या

एक लम्बी हड़ताल
जिसके फलस्वरूप
उजड़ते व्यथित परिवार
शायद घुटने टेक दे
लेकिन, नहीं
जुझारू मजदूर अपने बुनियादी न्यायोचित
हकों के लिए, हर कुर्बानी देता है
व्यवस्था फिर भी नहीं मानती
तने हुए दिमागों को उकसा कर
हिंसा के नाम पर
(जिसका कहते हैं लोकतंत्र में कोई स्थान नहीं है)

गोली दागो आदेश !
उसके लिए सब कुछ जायज है
हिंसा, बेईमानी, षडयंत्र, गुंडागिरी
और हैवानियत
हमारे लिए ही है इन्सानियत
और हम उसके बल पर ही
उन्हें कुचल देंगे
यह तय है
इतिहास साक्षी है
सर्वहारा और शोषित जन के इस मार्च को
कोई नहीं रोक सका
न रोक सकता है
'नयी व्यवस्था' का कोई अग्रदूत !

एक

संघर्ष से कटते हुए / बचते हुए
निम्न पूंजीवादी मनोवृत्ति के शिकार
मेरे साथी !
पर्चे लिखने से या कविता करने से
या बीड़ी पीते हुए बहस करने से
अतिक्रांतिकारी घोषणाओं की दुंदुभी से

क्रांति की भूमिका नहीं बनाई जाती
हो सकता है, तुम सोच रहे हो
तुम्हारे लिए खोने को बहुत कुछ है
और पाने की तुरत कोई गारंटी नहीं
तभी तो
तुम्हारा व्यक्तिवाद, सुविधावाद और अवसरवाद
ऊपर से मार्क्सवाद का चढ़ा चमचमाता मुलम्मा
तुम्हें ट्राटस्की बना देगा
लेनिन नहीं।

दो

जब संबंधों में
(वे चाहे उत्पादन संबंध हो या
पारिवारिक, सामाजिक)
भयंकर दरार पड़ जाय
या उनमें पैदा हो जाय
सड़ांध / विरोधाभास / विडम्बनाएँ
तब संबंध
बोझा ढोने का नाम भर रह जाते हैं
ओर चेतना या
व्यक्तित्व को कुंठित करने का काम
उससे लिया जाता है
जुझारू जन अपनी उत्ताल चेतना को
कुंठित नहीं होने देता
वह शंखनाद की तैयारी करता है
लड़ाई / युद्ध / या भिड़न्त
सम्पूर्ण विरोधाभासों और विडम्बनाओं को
नष्ट कर देती है
कुलबुलाते, पीप पड़े फोड़े को फोड़ डालती है
तब संबंधों में एक नई ताजगी
एक नई उमंग पैदा होती है
जो हमें जीवन के / सत्यं, शिवं, सुन्दरम्
की ओर ऊर्ध्वगामी करती है ●

आत्मकथ्य : निरन्तर अग्नि

हर आदमी की जिन्दगी में कविता होती है—कभी अधूरी-सी, कभी एकदम साबुत और कभी न समझ में आने वाली, किन्तु सम्मोहनभरी किसी 'अकेली' धुन की तरह ! कई बार कविता जीवन के मायने बदल देती है और उन तमाम खतरों के रूबरू जा खड़ी होती है, जिससे आँखें मिलाने में भी हमें भय लगता है।···ये तीन कविताएँ हैं—भाषा के स्तर पर कहा जा सकता है, शायद, कि इनकी जमीन एक है, लेकिन आगे··· अनुभव अपनी जगह स्वयं तलाश लेते हैं, जंगल की आग या बाढ़ के पानी की तरह ! और यह 'तलाश', उस क्षण भी खत्म नहीं होती है, जब कविता—कम से कम—शब्दों के साथ चलते हुए समाप्त होने लगती है। राजस्थानी लोककाव्य 'पड़ बगड़ावत' की एक पंक्ति है—'सिर्फ एक बार जलायी गयी है अग्नि, इस पृथ्वी पर···बरसों पहले, किसी पुरुष या स्त्री के हाथों द्वारा और···वह आज तक बुझी नहीं है···एक पल के लिए भी।'

मणि मधुकर
फ्लैट नं० ४८, करनानी इस्टेट,
२०६, जे० सी० बोस रोड, कलकत्ता–१७

तीन कविताएँ / मणि मधुकर

घंटाघर

एक छत से उठता है धुआँ
और दूसरी छतों पर चला जाता है
एक पेड़ से उड़ते हैं पक्षी
और आसमान में बिखर जाते हैं
एक दरवाजे से निकलता है आदमी
और बहुत सारी चौखटों में फँस जाता है
ऐसा क्यों है कि कोई कुछ करता है
और कुछ हो जाता है
सिर्फ़ एक घंटाघर है शहर के बीच में
जो बार-बार बजता रहता है
लोग कहते हैं कि वह समय बताता है
लोग कहते हैं कि वह अफवाहें फैलाता है
लोग कहते हैं कि वह नाम ले कर पुकारता है
लोगों को

है एक रहस्य उसके भीतर
है एक कोठरी पीछे की तरफ़
है एक फुसफुसाहट वहाँ की
हवा में—सरफ़रोशी···सरफ़रोशी···
लोग कहते हैं घंटाघर कुछ करना चाहता है
और कुछ हो जाता है रोज़-रोज़ !

नैनसुखलाल

मान लो एक पल के सौवें हिस्से में
कहीं से कोई गोली छूटे
और तुम्हें खत्म होने वाली चीजों की
फ़ेहरिस्त में शामिल कर दे
तो तुम अपने खून को कितनी आँखों से देखोगे ?

हज़ार आँखों से देखता है नैनसुखलाल
जो परदे के पीछे बैठा है
और शहर को शिकजे में कस कर
नींबू की तरह निचोड़ रहा है फेंक रहा है
रेंक रहा है हँस रहा है खिरं-खिरं-खिरं
उसके होंठ हिलते हैं सिर्फ़ फ़ोन पर
और सब कुछ मँहगा हो जाता है
या सब कुछ नरक में बदल जाता है
या सब कुछ अदृश्य हो कर
एक दृश्य बन जाता है
केवल धुंध का !
मान लो जब तुम कभी किसी निहायत मामूली
बात पर मुस्कराने लगो
और एक रूमाल गिद्ध की भाँति झपट कर
तुम्हारी वह अकेली मुस्कराहट पोंछ दे
तो तुम फिर
अपने एकदम खाली चेहरे को ले कर
कहाँ जाओगे ?
लेकिन जब तुम शब्दों के
जनाज़े को ढ़ोते हुए

दो-चार आँसुओं में पिघलने और उबलने,
लगोगे उस समय भी
वह रूमाल वह गिद्ध फड़फड़ाता हुआ आएगा
और तुम्हारी आँखें निकाल ले जाएगा !

जन्मदिन

सोचना तो ज़रूरी है
पर सिर्फ वही काफी नहीं है जबकि जड़ें
दलदल में नष्ट हो रही हैं
गल रही हैं पाँवों की अँगुलियाँ
जितना भी बोझ है मलबा है
आलतू-फालतू सामान है
सब उठा ले जाएँगे क्रीतदास और तुम
सन्नाटे की खबरों में
ढूँढ़ते रहोगे यह सवाल कि लड़ाई
जारी रहेगी या नहीं ?
कहाँ पाँसा फेंकूं ? कहाँ पैर रखूँ ?
चीखते हैं दो अलग-अलग आदमी
दो अलग-अलग रास्तों पर
एक को सुनते हैं
दूसरे को अनसुना कर जाते हैं
अजीव-से चेहरे
फिर पहियों और खुरों से दिन का
इतिहास लिख दिया जाता है
सोचना तो ज़रूरी है उस इतिहास पर
रथों से उड़ती हुई धूल पर
और अंगों में रेंगते हुए कोढ़ पर
लेकिन···
इतना ही नहीं—कुछ और कुछ और कुछ और
वह 'कुछ और' क्या है
तुम्हारे भीतर जन्म ले चुका है और तुम
उसकी औक़ात को जानते हो !

●

परिचय

[ममता कालिया : जन्म : २ नवम्बर, १६४०। एम० ए० (अंग्रेज़ी) दिल्ली विश्वविद्यालय। अब तक दो उपन्यास 'बेघर' व 'नरक दर नरक' प्रकाशित। दो कहानी संग्रह 'छुटकारा' व 'सीट नं० छह'। अंग्रेज़ी में एक काव्य-संकलन 'ट्रिब्यूट टु पापा एण्ड अदर पोयम्स' अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिकाओं में चर्चित।

आजकल इलाहाबाद में महिला सेवासदन डिग्री कालिज की प्रिंसिपल।]

बी-२३३, आवास विकास, महदौरी,
इलाहाबाद

वसन्त

कलावती की
उन उन जगहों पर
जिन जिन जगहों पर
पतझड़ फिर गया है
अब
वसन्त कुछ नहीं कर पाएगा
क्योंकि
कलावती
वनस्पति नहीं है
और वसन्त में भी;
अब पहले सी मस्ती नहीं है
सरसों भी इस साल कुछ फीकी फूली है
गाजर भी खाओ तो लगती मूली है।

●

आत्मकथ्य

आत्मकथ्य में मुझे कुछ नहीं कहना है। मेरी कविताएँ इतना स्पष्ट बोलती हैं कि वही मेरा वक्तव्य है। मुझे तो प्रायः अपनी कविताओं में अपना 'मैं' इतना मुखर प्रतीत होता है कि कभी कभी यह संदेह हो जाता है कि वे कविताएँ हैं भी या सिर्फ मेरा 'मैं' है ? इसलिए मैं कविताओं को किसी 'वाद' के मंच पर सजाना नहीं चाहती, बस जो भी लिखती हूँ, अप्रयास मुझसे लिखा जाता है। कविता से अधिक कहानी में स्वयं को अधिक सुविधाजनक महसूस करती हूँ यानी कहानी मुझे आत्माभिव्यक्ति का अधिक उपयुक्त माध्यम लगती है। लिखना मेरे लिए अनिवार्य है, उससे भी अधिक आवश्यक समझती हूँ ज़िन्दगी को खूबसूरती के साथ जीना। मात्र बोरियत, कुंठा, विषाद, जड़ता, घुटन आदि को आधुनिक मूल्य बनाकर प्रस्तुत करने वाला साहित्य मुझे बदबू फेंकता प्रतीत होता है, इन सब से मुक्ति का रास्ता जो न खोज सके वह कैसा साहित्य है ?

मणिका मोहनी
७/९, साउथ पटेल नगर,
नयी दिल्ली

तीन कविताएँ / मणिका मोहिनी

मेरा मरना

कोई अचानक यूँ ग़ायब हो जाता है दिमाग़ से
कि याद करने पर भी नहीं आती है उसकी याद।
बरसों का संबंध बेमानी होकर
बेआवाज़ टूट जाता है।
व्यक्तित्वों का अवमूल्यन स्वीकार करके भी
ढोया था हमने आदर्शों का बोझ,
घर के कोनों में सजाए थे गुलदस्ते,
रोज़ बदली थीं चादरें और तौलिए,
अपने खालीपन को ढकने के लिए
ओढ़े थे खोखले कहकहे,
मतलब यह कि
जीने के नाम पर जिया था सिर्फ़ एक ढोंग
और होते गए थे धीरे धीरे मृत
हर पहचान खुद-ब-खुद मिटती चली गई।

दो चलते फिरते मृत शरीरों का
छत और दीवारों की आड़ में
पास आना, टकराना और वापस लौट जाना
सब खत्म होता चला गया।
यूँ उड़ाए थे हमने भी बहुत
शान्तिदूत कपोत
लेकिन मात्र चाह लेने से
शरीरों में गर्मी नहीं भरती,
कुछ होता है जो
चाहने से दूर अनचाहे असर करता है
और हम बर्फ़ पर बैठ कर
बिना कुछ कहे सुने बुझ जाते हैं
एक कथाहीन अध्याय समाप्त होते ही
अतीत खाली पृष्ठों सा
मुझमें जुड़ गया है।
कितनी हैरानी होती है जब कोई
कोशिशें करने पर भी याद नहीं आता है,
हर बीता हुआ पल मेरा होकर भी
किस तरह दिल और दिमाग़ से उड़ जाता है,
मेरा मरना किस कदर बेअसर
मुझमें से गुज़र जाता है।

भीड़ के हवाले

खालीपन को भरने की कोशिश में
हर बार प्यार के दौर से गुजरी हूँ;
हर बार-प्यार मुझे
और खाली कर गया है।
प्यार का कोई नियम नहीं।
प्यार क्यों बार-बार हो जाता है
और हर बार / यह उतनी ही गहराई से तोड़ जाता है।
आज मैं
अपनी ही आवाज़ से बचने के लिए

खुद को भीड़ के हवाले कर देती हूँ
लेकिन शोर गुल
इस तरह गुज़रता है मुझे अनछुए
कि मेरा अकेलापन
मुझे और अकेला कर
फिर से भीड़ में बिखर जाता है

छूटा हुआ क्षण

पूरी ज़िन्दगी को पकड़ कर रखने की कोशिश
कितनी व्यर्थ है
जब याद आता है वह क्षण
मात्र जिसे पकड़ लेने से
पूरी जिन्दगी को पकड़ कर रखने का
भ्रम पैदा किया जा सकता था।
कैसे अचानक हाथ से निकल गया था
वह एक क्षण
जब मेरे अनजाने दिल की बात
दिल में रह गई थी
और स्वाभिमान मेरी ज़ुबान पर आकर
बैठ गया था,
और मेरी सारी प्रतिबद्धता को झुठलाता हुआ
वह क्षण निर्णय का क्षण बन गया था।
निर्णय जो चीज़ों को समझने-सुलझाने के लिए
अत्यन्त ज़रूरी था
लेकिन मुझे भीतर कहीं आत्मप्रताड़ना की
एक गहरी खाई खोदनी पड़ी थी
जिसमें दबा दिए थे मैंने
उसूलों के नीचे
अपने सब सच।
जो मेरा सच था वह मेरे ही तर्कों की
तेज़ धार से कटता चला गया था।
मैं रातों को अकेले में रोई थी
कि क्यों मैंने उसूलों की राख के नीचे

दबा दिए जलते हुए सच ?
क्यों नियति को अपने तरीक़े से रचना चाहा ?
क्यों विपरीत दिशा में
मोड़ दिए हवाओं के रुख ?
हवाएँ जो शीतल भले ही न करें
सही दिशा में बहने का धर्म तो निभाती थीं
लेकिन धर्म की बात सोच कर
मुझे कभी अच्छा नहीं लगा
और धर्म के नाम पर
मुझे याद आते रहे
दुश्चरित्र लोग
जिन्होंने मौक़ा देख कर सच बोले
और मौक़ा देख कर झूठ
और अपनी व्यवहार कुशलता से
जीत लिए दोनों लोक।
चलती चाकी को देख कर
कबीर क्यों रोया था ?
व्यर्थ ही उसने पिसने वाले का दर्द
अपने कंधों पर ढोया था।
कबीर, तुम्हारे नाम पर माटी ने
कुम्हार को रौंदा था
लेकिन उस वक्त तुम कहाँ थे
जब वह खुद पानी में बह गई थी ?
दोनों हाथों से लगातार
बादामों को तोड़ने की कोशिश में
नाखून टूट गए हैं।
अगर मैं भगवान पर विश्वास करना
शुरू कर दूँ
तो नहीं जानती कि
बादामों के टूटने की कामना करूँगी
या नाखूनों के जुड़ने की

●

आत्मकथ्य

कविता मेरे लिए मेरे कुछ होने की चेतना रही है। यों मेरे स्मृति-कोष में अपने होने के दृश्य बहुत कम हैं, इस अर्थ में कि ऐसे नहीं, जो मेरी आत्मचेतना को कुचले जाने और कहने की चरम सीमा के आगे के अनुभव-अनुभूतियाँ ही हों।...एक संस्कारी मध्यमवर्गीय परिवार की लड़की और फिर पत्नी; जिसका सभी कुछ पटरी-पटरी चला, उसके भीतर भी वह किशोरी जिसमें अतिरिक्त उत्साह था, पर उसके कुछ बनने और करने के उतने हिस्से में किसी की दिल-चस्पी न थी जिसके बिना काम न चले, जो दुर्बल आकर्षणहीन, इसीलिये अपने को उपेक्षित महसूसती थी, ढेर से प्यार के बीच भावनात्मक स्तर पर अकेली, हमजोलियों में स्कूल न जाने के कारण अपने को हीन और कटा पाती और उनके 'होम वर्क' के स्थानापन्न उसके बड़े बड़े अक्षरों में लिखे लोकगीत होते, जिन्हें कोई जाँच कर शाबाशी देने वाला भी न था...वह किशोरी लड़-झगड़ कर बची रही, साथ-साथ और छिटक कर भी चलती रही, विशिष्ट को पालती रही तो लेखन के जरिये।

लड़की होना एक नियत ज़िन्दगी जीना था; महादेवी वर्मा के जीवन ने बेहद आकर्षित किया फिर अभावों पर आत्मनिषेध के चंदन सदृश्य उनके काव्य ने निराश। कहाँ है वह तलस्पर्शी भावनात्मक सह-अनुभूति की सहचारिता? परम्परित साहचर्य स्वीकारा और फिर लेखन ही इस भावनात्मक तादात्म्य की परितुष्टि का माध्यम रहा, और उस संघर्ष की आवाज भी जो हर मनुष्य अपने लिये नियति या व्यवस्था द्वारा नियत या कभी कभी खुद ही बलात् लाद ली गई ज़िन्दगी के विरोध से अपनी तरह जी लेने की छटपाहट के तहत महसूस करता है, करता रहता है.....जब बहुत समय तक अनुभूति और कलम का साथ नहीं हो पाता तो यकायक घंटाघर की घड़ी के गजर की चोट की तरह मन में व्यर्थ ही बीतते चले जाने की टीस उठती है और फिर कोई कविता लिख लेने के क्षण मेरे लिये अपनी पसंद की जिन्दगी जी लेने की परितृप्ति के क्षण होते हैं। वक्त के लबालब भरे तालाब से बहुत प्यासे कंठ की प्यास बुझने के क्षण!

स्थितियाँ...हिंस्र पशुओं से घिरा जंगल और मैं एकमात्र आत्मसमर्पण के कानून से बचने को पंजों के बल किसी चिकने पेड़ पर चढ़ रही हूँ, आत्मसमर्पण जबड़ों में या पैरों तले, बात एक ही है। कभी कभी लगता है पंजों की जगह कविता आ गई है...तब जैसे सुबह से शाम तक बौना होता आदमी रात की आखिरी लोकल बस में जगह पाकर मेरे सामने पूरा खड़ा होता है प्रश्नों की भीड़ से जूझने के लिये।

अपनी रचनाओं में मेरी प्रकृति स्थितियों के बीच किसी निष्कर्ष पर पहुँचने की रही है, स्थितियों में कोई विकल्प किसी समाधान की खोज नहीं तो संकल्प की दृढ़ता। इस पर आक्षेप भी हुये, इतने बड़े, बहुआयामी संघर्ष के निष्कर्ष क्या गलत और अधूरे नहीं होते? होंगे, पर मैं इस तरह यहाँ अपने को गलत नहीं पाती, इसमें तो मुझे विवेकी ओर चिन्तनशील मानव की शक्ति और क्षमता दीखती है। जिजीविषा की टकराहट जो यथास्थिति को यदि बुलडोज़र की तरह मिटा नहीं देती तो कोई बुलडोजर ले आने की तीव्र चेतना तो जगा देती है।

मालती शर्मा
२५/२, 'पाखर'
बम्बई-पूना मार्ग,
पूना-३

तीन कविताएँ / मालती शर्मा

दूब गंध

रोमांचक लगते हैं, ट्रेन में सफर करते हुये
पटरी के सहारे बने घर, घरों में साँस लेती ज़िंदगी
—भीतर पथराई कोई अनाम ठिठुरन
किसी खिली अँगीठी का सा सामीप्य पा
पिघलने लगती है

साथ साथ भागते दृश्यों से निकल निकल
खिड़की की सलाखों से आ सटते हैं
कैशौर्य के सबेरे, दूब गंध सी गमकती
यौवन की रातें

दरवाजों पर सुलगती अँगीठियों का धुआँ
कड़ आता नहीं, जुड़न की आँच और कोई
—भूली सी गंध देता है
शायद
बिस्तर-अटैची में बंधी
साथ साथ सफर करती एक और ज़िन्दगी
खिड़की के बाहर गाड़ी की छक छक में
खो जाती है

अन्त में

कई दशक बाद कूर्मांचल की घाटी में
वह अमृत-श्रत्रा फूल खिला था
जिसके प्राणदायी रस की उनके नगर के रंगमंच की
मरणासन्न आत्मा को बेहद जरूरत थी
अब उसे लाना टाला नहीं जा सकता था
अतएव एक दिन वे कलाजीवी इक्ट्ठे हो बैठे
पहले नापी गई टाँगों की लम्बाई, दूरियों और छलांग की
ऊंचाई, फिर कागज पै गुणाभाग हुए
और उनके हर्ष का ठिकाना न था कि सबकी
टाँगों की लम्बाई मिलकर छलांग के लिये
पूरी बैठती थी
बस उस जंगल की अपरिमित हरियाली की प्रत्याशा में
उन महारथियों के घोड़े चबाने लगे वल्गाएँ
तोड़ने लगे रस्सियाँ,
आखिर एक घोड़ा चुना गया
जिस पर वह टाँगों वाली टाँग सवार होनी थी

पर सबसे पहले तो सीमोल्लंघन करता था, 'जय गणेश' कह
कर उन्होंने पैर उठाये ही थे कि सीमा पर उगी
घिरावदार रोटियाँ और घास उनके पैरों से लिपट गई
जिनका फूल तक के रास्ते के बीच मिलने का कोई
भरोसा न था

अचानक उन्हें अलग अलग तरह की भूखें सताने लगीं
और याद आने लगीं, जेबों थैलों ब्रीफकेसों में
रखी सूचियाँ
उन्हें लगा, बेतरह थक गये हैं
सबकी निगाहें घड़ी पर जाने लगीं
ओह ! वक्त कितना ज्यादा हो गया ?
उन्हें तो कहीं और पहुँचना था
तब सबने जल्दी जल्दी में जबान द्वारा परोसी गयी चाय में
दिन भर की थकान डुबो ई

और फूट लिये अलग अलग दिशाओं में
आने वाले कल पर कार्यवाही स्थगित कर
जो कभी न आने वाला था
घाटी के फूल पर अंधेरा घिर आया था
और रंगमंच की आत्मा, उसी तरह कराह रही थी

मर्म

जब जब सोफ़े पर धूल जमती है
उस पर मेरी तस्वीर छपती है
और मेरे भीतर से कोई एक मूर्ति जन्म लेती है
तब, कुछ आँखों में मेरा एक और चित्र भी
बनता है, कुछ में दूसरा
लेकिन जब जब मैं झाड़न से धूल पोंछती रहती हूँ
सारे चित्र मिट जाते हैं, वही घिसा पिटा सा
स्वच्छता का शून्याभास पसर जाता है

●

आत्मकथ्य

आत्मपरकता जब रचनाओं में है तब आत्मकथ्य की आवश्यकता मैं महसूस नहीं करता। रचनाएं स्वयं बोलती हैं तो अच्छा लगता है और जब रचनाओं से भी कहीं अधिक कवि बोलता है तो वह एक छद्म अथवा ढोंग बन जाता है। अभिव्यक्ति के संकट के समय में कलम आज अनेक साजिशों की शिकार है। लिखने वालों को मात्र बहसों में उलझाए रखना भी साहित्य-ठाकुरों एवं उनके मुनीमों की प्रखर चाल रही है। बुद्धिजीवी होने का थोथा दंभ और गतिहीन चिन्तन, कमरे की जिन्दगी और बन्द खिड़कियां, एक थकी सी परवाज़ जैसे धुंधलके में नुचे पर वाला कबूतर फड़फड़ाया हो; ऊबड़ खाबड़ मन:स्थितियां और तल्ख अनुभव, दूसरों को दोष, नाहक दोष क्यों कि हम फाउस्टों ने जब आत्मा गिरवी रखी थी तो सोच समझकर रखी थी—भौतिक सुख, सम्पन्नता के लिए; और अन्त में प्रलाप। मगर प्रलाप किसी भी सुन्दर रचना या विधा की नियति नहीं हो सकता। इसी कारण रोशनी की खोज जारी है। भले ही इस समय कविता सुन्न हो गयी है और उसकी वाणी एक घायल, कराहते आदमी की क्षीण आवाज़ जैसी है मगर वह फिर बुलन्द होगी, और भी अधिक जगमग और आस्थावान। क्या हुआ जो कविता इस समय प्रबुद्ध सुकरात की तरह जहर पी रही है?

मेरी कविताओं में जो आपको मिले वह शायद मुझमें न हो। आरोपित आत्मकथ्य में अपना छद्म रख रहा हूँ। नम्र निवेदन यही है कि मेरी जगह आप मेरी कविताओं से बात करें और यदि वे कुछ बोलने, कहने, सुझाने से इन्कार करती हैं तो आप मुझे 'एक और यूं ही' का फ़तवा देकर सम्मानित करें।

योगेन्द्र किसलय
पुरानी गिनानी
बीकानेर (राजस्थान)

एक कविता / योगेन्द्र किसलय

दो जून खाने का प्रबन्ध
मेरी लेखनी के पास अब शब्द नहीं रहे।
पत्रिकाओं का कलेवर कम हो गया,
पन्ने कम हो गए,
कीमतें मगर बढ़ा दी गयीं—
पारिश्रमिक वही
जो आज से बीस वर्ष पहले था।

लेखक साला फिर भी लिखता है
गिड़गिड़ाता है
छपने के लिए।
लेखकों का, सृजनकारों का कोई मंत्री नहीं!
ठीक भी है उन्हें विपन्नता में रखना
ताकि उनके फफोले फूटें
और वे रचना करें—
वर्तमान में मरें
और भविष्य में जियें।
मेरी सारी हिम्मत
राशन की लम्बी कतार ने छीन ली है
मैंने किसी जिलाधीश,
किसी एस० पी०, किसी डी० एस० ओ.
कों आज तक राशन की दुकान पर
घिसे-पिटे लोगों की पंक्ति में खड़ा नहीं देखा।

यह कैसी एकतंत्रीय व्यवस्था है।
अब किसी कम तौलने वाले के हाथ नहीं कटते
कभी कभार महज़ दिखाने के लिए
पकड़ लिया जाता है कोई मिलावटी
और पूरे सप्ताह आकाशवाणी को
मिल जाता है एक कथ्य।

मैंने एक सपना देखा था :
एक नेता और एक सेठ
मेरी रीढ़ की हड्डी को काट
चूस रहे थे
मैंने कहा :
यह क्या किया तुमने
अब मैं लिखूँगा कैसे ?
उत्तर मिला :
'चुप रह कमज़ात।

स्वाद छीनता है
समझता है तेरे लिखने से
देश चलता है।'
और वे चूसते रहे हड्डी
और तब से मैं उनके कथन की सच्चाई से
प्रताड़ित हूँ।
सोचता हूँ और दुःखी होता हूँ
क्यों बने थे राधाकृष्ण राष्ट्रपति
उदाहरण दिये जाने
और हमेशा के लिए हमारा मुँह बन्द रखने के लिए।

अहं···एक अहं···एक अहं
वस्तुस्थिति···एक वस्तुस्थिति···एक वस्तुस्थिति
शोक···एक शोक···एक शोक
ज़िन्दगी को नए अर्थ नहीं दे सकता
अब मैं,
अब मैं खुद अपना ही शत्रु हो गया हूँ
सूखी हुई लेखनी की नोक को
मैं कंठ के पास ले आया हूँ
ठिठक गया हूँ—
संसद से शायद कोई बिल पास हो जाये।
कि लोग लेखकों की हड्डियों को
आइन्दा न चूसें।

●

आत्मकथ्य

कविता के प्रगतिशील आन्दोलन के साथ मेरा सम्बन्ध है, इसलिए उसे निरर्थक शब्द क्रीड़ा मैं नहीं मानता, पर कविता मात्र को क्रांति का हथियार या सामाजिक परिवर्तन का औजार मानने की संकीर्णतावादी दृष्टि को भी मैं स्वीकार नहीं करता। पिछले कुछ बरसों में जहाँ हिन्दी कविता में वामपन्थी रुझान अधिक प्रबल हुए हैं, वहाँ कविता को राजनीति या वर्ग-संघर्ष तक सीमित कर देने की संकीर्णतावादी दृष्टि भी बढ़ी है। पिछले दिनों उत्तरार्द्ध के संपादक ने मेरी एक कविता को, उसके जनवादी सरोकारों के बावजूद, इसलिए प्रकाशित करना उचित नहीं समझा कि उसका स्वर निराशापूर्ण है। यह एक ऐसी दृष्टि है, जिसे काम करने दिया गया तो न केवल प्रकृति, प्रेम, सौंदर्य आदि विषयों पर लिखी कविताएँ प्रगतिशील कविता की सीमारेखा से बाहर निकाल दी जाएँगी, बल्कि सामाजिक क्रान्ति से संबद्ध वे कविताएँ भी पलायनवादी और प्रगति-विरोधी घोषित कर दी जाएँगी, जिनमें क्रान्ति का दर्द, अवसाद, और उसकी विडम्बनाओं को अभिव्यक्ति दी गयी हो, जबकि मेरे विचार से ऐसी कविताएँ सपाट क्रान्तिकारी या क्रान्तिविरोधी कविताओं की अपेक्षा कहीं संश्लिष्ट और कहीं गहरी हो सकती हैं और होती हैं। इस संकीर्ण दृष्टि के विरोध में लिखे एक शेर से अपना यह संक्षिप्त वक्तव्य समाप्त करता हूँ :

और भी सच्चाइयाँ हैं ज़िंदगी में वर्ग के संघर्ष के अतिरिक्त भी
दर्द, मस्ले, राहतें इन्सान की हैं बहुत सी जो अर्थ से निर्लिप्त भी !

रणजीत

कटरा, बाँदा (उ० प्र०)

तीन कविताएँ / रणजीत

चुप्पी

मेरे भीतर उमड़ती है एक कविता
घुमड़ती है एक गाली
एक नारे में अपनी सारी घुटन उगल देना चाहता हूँ
मेरी आत्मा कचोटती है
कहती है—कायर बोल !
पर मैं चुप हूँ।

चुप्पी और चापलूसी के बीच बंट गया है पूरा देश
और मैं चुप्पी चुनता हूँ
पर एक़ तीसरा विकल्प भी है : जेल।
अपने सिर के बालों तक से लोगों का अधिकार छिन गया है
अब पुलिस ही तय करती है कि वे रहें या न रहें
मैं कश्मीर से कन्या कुमारी तक फैली हुई
एक लम्बी चौड़ी जेल में बन्द हूँ
पर और छोटी जेल में जाने से डरता हूँ
क्योंकि वहाँ न जाने कितने वर्षों के लिए
अलग कर दिया जायगा मुझे अपनी नन्ही सी बच्ची से,
अपनी प्रिया से—वे रो रोकर जान दे देंगी।
और सबसे बड़ी बात
हो सकता है मुझे राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का ही सदस्य
घोषित कर दिया जाय।

सब कुछ उनके हाथ में है
न्याय भी और सत्य भी
इसलिए मैं चुप्पी चुनता हूँ।

मोहरे की यंत्रणा

कैसी दारुण स्थिति है
कि जिस लड़ाई को अपनी गहनतम निजी और सैद्धान्तिक समझकर
लड़ रहा था मैं पूरी निर्ममता से
वह पहले से ही बिकी हुई निकली बाजार में
उस पर दाँव लगे हुए हैं दो व्यावसायिक घरानों के
कि मेरी हार एक की जीत है
और मेरी जीत दूसरे की जीत।
मैं क्यों अपनो जीत से उसे लाभ पहुँचाऊँ ?
तो क्या मैं उसका शकुन बिगाड़ने के लिए अपनी नाक कटा लूँ
पर मेरी कटी हुई नाक भी तो उसके प्रतिपक्षी को खुशी से भर देगी ?
क्यों मैं उसकी खुशी का सामान जुटाऊँ ?
तो क्या मर जाऊँ ?

आह यह आशंका आराम से मरने भी तो नहीं देती
कि मेरी मौत का व्यापार करेंगे कुछ ऐसे लोग
जिन्हें मैं बिल्कुल नहीं चाहता, और मालामाल हो जायेंगे
हालांकि यह भी ठीक है,
कि मेरे जीवित रहने का लाभ उठा रहे हैं
कुछ दूसरे लोग
और मैं चाहकर भी इसका कुछ नहीं कर पा रहा हूँ।

दर्द की गाँठ

रह रह कर उभर आने वाले
मेरे इस निबिड़ अकेलेपन का इलाज क्या है ?
किताबें, कविताएँ, रिकार्ड, दोस्त,
शराब, लड़कियाँ ?
या पापा की एक अबूझ उदासी को तोड़ने की कोशिश करने वाले
चंचल बच्चे ?
मेरे इस अमूर्त आत्मिक विषाद का इलाज क्या है ?
ये सब उतार, लेते हैं कई बार उसकी ऊपरी पर्तें
'यह नहीं, वह' के सारे विकल्प इन्हीं पर्तों से जुड़े हैं
पर इन सब पर्तों के नीचे है
न जाने और कितनी पर्तों वाला
मेरे अकेलेपन का वह नाभिकीय अंश
ध्रुवों पर जमी हुई बर्फ की शताब्दियों के नीचे
दबे हुए एक सघन प्रस्तरीभूत हिमपिंड की तरह—
जिसे छू तक नहीं पाती हैं किताबें,
कविताएँ और संगीत
यहाँ तक कि प्रिया की संवेदनशील आँखें भी
नहीं अनुमान पाती हैं उसकी गहराई।
मेरे साथियो, मेरी कविताओ, मेरी प्रियाओ !
मैं खोलकर रख देना चाहता हूँ इस दर्द का एक एक रेशा
तुम्हारे सामने
और इससे मुक्त हो जाना चाहता हूँ
पर मैं क्या करूँ

तुम्हारी सहानुभूति, तुम्हारी चोट, तुम्हारा प्यार
पहुँच ही नहीं पाता दर्द को इस गाँठ तक
कई बार उसके अस्तित्व तक से अनजान रहता है
उफ़ कहाँ समर्पित करूँ ?
कौन से वृहत्तर सत्य के सामने ?
पारे की तरह बोझल दर्द से लबालब भरी हुई इस मंजूषा को
जो बनी रहती है मेरे गहरे से गहरे प्यार के आर पार
मेरी ऊँची से ऊँची उड़ान की पहुँच के वाहर।

नहीं !
मात्र सुखी-सम्पन्न गृहस्थ जीवन
सफल प्रेम
स्निग्ध मैत्री सम्बंध
और साहित्य सृजन का सन्तोष इसका इलाज नहीं है !

●

तीन कविताएँ / राजकुमार कुम्भज

क्रमागत अधिनायक

हत्या के क्रमागत अधिनायक
मैं / अपनी पीठ पर महसूस कर रहा हूँ
जिन्होंने पहन रक्खा है
खतरनाक आवाज़ों का / अंतहीन-जंगल

मेरी / स्वप्नभरी आँखों के सामने
एकदम नंगी खड़ी है / ख़ूनी अंधेरे की बारिश
जिसके हाथों में अबोध बच्चों की लाशें
खिलौनों की तरह / झूल रही हैं

ये लाशें
बारूद की तरफ बढ़ती जा रही हैं
जो / किसी भी वक्त / कर सकती है विस्फोट
मेरे बिस्तर के सिरहाने
एक अलार्म घड़ी / और / बम की तरह

तमाम निंदाहीन मुस्कुराहटें
हिरोशिमा की लाल लपटों में बदल रही हैं
और / किसी आश्चर्य की सुरंग में / आकाश
अचानक रुखसत हो गया है
सफ़ेद वस्त्र उतारकर

सभी खामोश / और / उदास
और / पत्थर-मूर्तियों के इस मौसम में / भयग्रस्त होकर
तलाश कर रहे हैं अपने-अपने कफ़न
लेकिन मैं / बदल देना चाहता हूँ / आकाश का चेहरा
क्योंकि मेरे पास / बर्दाश्त करने का
कोई तावीज़ नहीं है

यह जानते हुए भी / कि मेरा निश्चय
क़ब्र में पड़े किसी मुर्दे की तरह / नितांत अकेला है
मैं / तूफ़ान बनने की कोशिश पर हूँ / फिर भी
और सावधान की मुद्रा में / बिल्कुल तैय्यार

ख़ून से लथपथ सूर्य

मैं / प्रजातंत्र की वह पैदाईश हूँ
जो सीटियों का / भय / पहनकर
भाषण की मरणासन्न / करतूतों में
तब्दील हो गई है

मैं / प्रतीक्षारत जनता का वह चेहरा हूँ
जिसकी सतह पर बैठ गये हैं / अनायास
राजनीति के थके-हारे / इरादों के अक्स
लेकिन / जिसकी अंतहीन गहराइयों में
रोशनी का साहस / बराबर बाक़ी है

मैं / बिल्कुल अभी-अभी गुज़रा हूँ
तुम्हारी बगल से / तुम्हें स्पर्श देते हुए
मगर / तुमको दिखाई नहीं दिया
मेरी ज़खमदार पीठ पर / बैठा हुआ
ख़ून से लथपथ सूर्य

मुझे अफ़सोस होता है
कि तुम / अपनी ऐनक और आइना
साफ़ क्यों नहीं करते / अभी ?
और / माफ़ क्यों नहीं करते
मित्रता में संदेह ?

मैं / एकदम नंगे सिर खुल रहा हूँ
सदियों से बंद / आदिम दरवाज़ा तोड़कर
उनके आरामदार पेड़ / और / नदी की तरफ
मुट्ठियों में समुद्र का मौलिक आचरण
और भुजाओं में / आँधियाँ उठाते हुए

मैं / किसी लड़ाकू गुरिल्ला की
अद्भुत चमक से भरी हुई। आँख हूँ
और अंधेरे का / एक कठिन सैलाब हूँ
उनके ख़्वाब पर ठहरा हुआ

नाश्ते के इरादे पर

सबसे पहले मेमने के ख़िलाफ़ / ज़ाहिर किया गया आरोप
कि उसने नदी का संपूर्ण जल गंदा कर दिया है / और बाद में
भेड़िये ने / मेमने को रख लिया
अपने पेट के विस्तार में
मेमने को ख़बर नहीं थी कि वह कोई सांप्रदायिक अंक है
और उसे अपनी सुरक्षा के लिये / पहाड़ खड़ा कर लेना चाहिए
जब कि उसके पिछले हिस्से को
बराबर सूँघा जा रहा हो पालतू कुत्ते के ज़रिये

सवाल यही था कि कहीं यह सब
कानूनी लिबास में अस्वीकृत तो नहीं ?
किन्तु ऐसा नहीं था / सज़ा-ए-मौत से पहले
ज़रूरी होती है जिरह की घंटी
और / उससे भी पहले ज़रूरी होता है
आरोप का ज़ाहिर होना
इतना खुले आम / कि स्वयं की सद्भावना भी
दुश्मनी में बदल जाये

भेड़िये ने उसी ऐतिहासिक-क्रम से सारा काम किया
पहले आरोप लगाया / फिर जिरह की गुंजाइश दी
और / उसके बाद मौत का आचरण
ताकि जनता का भरोसा / बराबर बना रहे
संवैधानिक-काँच की सतह पर / और अन्य नागरिक
मुख़ालफ़त / अथवा / बग़ावत जैसे शब्दों को
ज़िन्दा अर्थ देने की कोई कोशिश नहीं करे,

दरअसल मेमना तो अभी / नदी की तरफ़ गया ही नहीं था
अपनी मौलिक भूमिका से बर्खास्त होकर
किसी शिविर की पृष्ठभूमि का धक्का संभालते हुए
कि उस पर / साज़िश का अंतिम हिस्सा भी

कठोरता में पहुँच गया / रोको
कि इस खेतीहर ज़मीन पर चुभाये जा रहे हैं / चाकू
और घोड़े की पीठ पर / चाबुक के ज़ख्म बोये जा रहे हैं
सारी हवा अपने नथुनों में भरकर
रोको / कि समुद्र के सींग शहर में घुस रहे हैं
और आदमी का / कहीं कोई ठिकाना नहीं लगता
रोको / सफ़ेद भेड़िये को / एक और रोटी हड़पने से
और झोपड़पट्टी में बलात्कार करने से···

भविष्य के इतिहास पर / सभी / जानवर चौकन्ने थे
लेकिन / मुक़ाबले के लिये कहीं भी टूट नहीं पाई / दरअसल
वर्तमान में शयनकक्ष की उदासीनता
उठ नहीं सका / मादा जिस्म से चिपका हुआ हाथ
चिल्लाते हुए दौड़ गये शब्द वापस
अपने-अपने इलाक़ों की /प्रशंसा में
किसी को फ़ुरसत नहीं थी
कि मेमने की / चीख / सुनी जाती
सभी डूबे थे / डूबे थे सभी
वन-महोत्सव की व्यस्त / घोषणाओं के इर्द-गिर्द

सचमुच / मेमना तो अभी
अपनी माँ के पेट से बाहर निकला ही था
कि दबोच लिया गया / सिर्फ़ / नाश्ते के इरादे पर
समाचारों की सारी कथा
चालाक दिमाग़ों की पैदावार का सिलसिला है
थूकने तक की ईमानदारी से बनी संबद्धता
स्वागत द्वार पर ही पड़ी रह गई

२६८, जवाहर मार्ग,
इन्दौर—४५२००२
(म० प्र०)

आत्मकथ्य

कविता अभिव्यक्ति का सबसे संक्षिप्त साधन है। अपने अलिखित रूप में वह दूसरों के सम्बोधन का माध्यम था और अब अपने लिखित रूप में वह आत्मालाप का माध्यम है और दूसरों से एकांतिक वार्त्तालाप का भी। हर कला की तरह सम्प्रेषण उसका अभिप्राय है और इस अभिप्राय की प्रकृति पर उसका रूप निर्भर करता है।

मेरे लिए वह मुख्यत: आत्मालाप का माध्यम है। किन्तु जो मैं सोचता-समझता हूँ, वैसा शायद दूसरे लोग भी सोचते-समझते हैं, इसलिए उनका प्रकाशन सार्थक हो सकता है—होता है, यह फैसला दूसरे लोगों को करना है।

कविता सामाजिक चेतना का एक ज्वलंत चित्र है। सामाजिक रूपान्तर में उसकी यही मुख्य भूमिका है। वह एक के माध्यम से पूरे सामाजिक भाव-लोक के निर्माण में भाग लेती है। मगर वह क्रान्तिकारी कार्यवाही का स्थान नहीं ले सकती। उसका एक पूरक भाग मात्र हो सकती है। कविता ऐसी कार्यवाही के लिए प्रेरक बन सकती है, मगर कार्यवाही का स्वरूप कुछ अन्य तत्वों से निर्धारित होता है जिनका कविता से अलग अस्तित्व है। वह दोनों समानान्तर भी हो सकती हैं और आगे-पीछे भी। मूल्यांकन के लिए दोनों के मानदण्ड अलग होने चाहिए।

राजीव सक्सेना

सी ४ ए / १४ ए, जनकपुरी,

नयी दिल्ली—११००५८,

तीन कविताएँ / राजीव सक्सेना

हवा

मैं मौन सह लूँगा
तुम्हारे जहाज का बोझ
तुम अपने यान का भविष्य सोचो

अपनी ढफली और अपने राग पर
मुग्ध बैठे हुए तुम

पहचान पाओग क्या
उस बेचैन खामोशी को
जो तूफान से पहले छा जाती है समुंदर पर
और तुम मुग्ध बैठे हुए हो
अपनी ढफली और अपने राग पर

दिशाएँ कितनी वफ़ादार हैं
वे तुम्हें तुम्हारी ही आवाज़ सुनाती हैं लगातार
मगर उनमें कैद हवा
बेहया
कब तक सह पायेंगी दबाव
हवा किसकी सदा रहती है
दिशाएँ कितनी वफादार हैं

मौन जब आवाज़ देता है
जाग उठती है सदियों की चुप आग
राख से पैदा हुइ फीनिक्सी दुनिया को
बोल देते हुए
सबसे अधिक अपरिहार्य और अनिवार्य
महामानव
सबसे अधिक संख्या में
सो रहे हैं कब्रगाहों में
जिन्हें लोग आवाज़ देकर रह जाते हैं

तुम्हारी कब्रगाह कहाँ है
मौन अब आवाज़ देता है

आरा खींचो

आरा खींचो हइसा
ज़ोर लगओ हइसा
इस डरे हुए सन्नाटे में आदमी की आवाज़ तो आवाज़
हर आहत आहट जैसे डंके की चोट है
मगर ऊँचे लोग जरा ऊँचा सुनते हैं
आओ भरोसा करें हम खुद अपनी ताक़त पर

आरा खींचो हइसा
ज़ोर लगाओ हइसा
अजीब है यह ऊँचा पेड़
अपने घर के सामने
धूप से छाया देते-देते उगलने लगा है अँधेरा
हर किरण को निगलते हुए
और अगर उसकी जड़ें
ऐसे ही गहरी होती चली गयीं
तो खा जायेंगी इस घर की जड़ों को

आरा खींचो हइसा
ज़ोर लगाओ हइसा
अब तो यह पेड़ रहेगा या यह घर
और हम घर ही चुन सकते हैं
हर शाख पर बैठे उल्लू
हमें क्षमा करें
इस डरे हुए सन्नाटे में हमें चुप रहना है मगर
हमारा दाँतेदार दर्द इन सरी वाह-वाहों के
बीच फैलता जाता है अफवाहों सा
एक आरे की भाषा में
पड़े कब तक हवा में झूमेगा ?

सुरंग के पार

भेड़ियों की जमात का साक्षात भय खड़ा कर हमारी सुरक्षा की
खातिर एक शातिर नायिका ने यकायक बीस-बीस मशालों से
भौंचक चकाचौंध कर हमें रेल-ठेल किया एक अँधी सुरंग में
जहाँ चीत्कारों के चीखों के जंगल में मशालें बन गयी थीं
काली काली डायनें और माँस पक रहा था कानूनी कड़ाहों में

तुम कहाँ थे वह कहाँ था मैं कहाँ था क्या पूछें क्यों पूछें
सभी को पता है कि हम सब एक सुरंग में खड़े थे जाल में या जेल में
कुछ भरमाये कुछ शरमाये कुछ घबराये कुछ चकराये
और अँधे अँधेरे में टूट पड़े हम पर देशी और विदेशी

डायनों के दाँत-नख बहराये से मौन में हमें सुनायी दीं
अपने ही रक्त की चुप-चुप चप-चप-गड़प-गप आवाजें
अपनी ही हड्डियों की कट-कट-चटक-गटक और हमने महसूसा
कि आपात काले आँखों से अधिक देख पाता है आदमी अपने कानों से
कानों से अधिक सुनता है अपने झनझनाते तन से और तन से कहीं अधिक
यंत्रणाएँ महसूसता है टीसते ज्ञान-बोध से और सूक्ष्म ज्ञान-बोध
कवच ही नहीं सुरक्षा का अस्त्र है युद्ध में विजय का निर्णायक

वे डायनें समझती थीं हमें भेड़-बकरियाँ पालतू और फालतू
हमें बताना पड़ा राक्षसी जबड़ों को तोड़ कर उनको एक सच्चाई
कि हम हैं मनुष्य और शक्ति है हमारी दुर्दमनीय और अजेयस
खेतों में उपजती और कारखानों में तपती इस्पाती भुजाओं में
और खूनी जबड़ों को तोड़ने का नाम है रोशनी रोशनी रोशनी
और इस रोशनी की रक्षा जरूरी है आँख की पुतली जैसी

मित्रो मत भौंचक खड़े रहो औचक इस रोशनी में ये किरणें स्वयं अपने
कलेजे से ही फूटी थीं जब हमने तोड़े थे वे खूनी जबड़े
और इस रोशनी का श्रेय लेते हुए आड़ में खड़ी है ज्ञेय और अज्ञेय
भेड़ियों की जमात फिर साक्षात गायों और बकरियों के भेष में
और फिर चढ़ा रहे हैं वे बड़े-बड़े साजिशों के कढ़ाह अपनी माँदों में
फिर इस रोशनी की रक्षा ज़रूरी है आँख की पुतली जैसी

●

आत्मकथ्य : अपनी सफ़ाई

देश-व्यापी स्वयं स्फूर्त्त जनान्दोलन के समय, खासकर छात्र-युवा-सक्रियता की अवधि में कविता, जब छोटी-बड़ी सभाओं में और नुक्कड़ों पर पढ़ी जा रही थी, नये सन्दर्भों में सुनी जा रही थी; तब भी जो कवि यों विशिष्ट जन होने के ठस्से में पतलून-कमीज और टाई के गन्दे और सिलवटदार हो जाने के डर से अपने घरों और मित्रों के घेरे से बाहर नहीं निकले, उनकी कविताएँ गुटबन्द पत्र-पत्रिकाओं में छपती रहीं और वे जनता से जुड़ाव, दैनिक यथार्थ, दलीय प्रतिबद्धता और काव्य-भाषा तथा जन-भाषा पर बहसें कर, जनवाद के खेमों में हाज़री देते रहे। मुझे उनसे शिकायत नहीं है क्योंकि वे कविता के कारपर-दाज़ होने की भूमिका अपना चुके हैं और उनकी कविताएँ जनता की अदालत में बतौर पैरवी के, मौजूद-भर हैं। वे कविता का मुकद्दमा लड़ रहे हैं और अपनी जमीन को 'डिसप्यूटेड' साबित करने में मशगूल हैं। उन्हें अपनी जीत के लिए कविता की 'रूलिंग्स' के आधार पर पक्षधरता की बहस से मतलब है। उन्हें जनता से मतलब नहीं है।

देश-व्यापी आपात-स्थिति की काली अवधि में जिन तथाकथित जनवादी कवियों ने सहज मध्यवर्गीय सुविधा-सुरक्षा की दृष्टि से, अपनी रोटी-रोजी और जेल से बाहर की दौड़-धूप बनाये रखने के लिए, सामन्तवादी-पूँजीवादी सत्ता का और उसकी तानाशाही का और जनतन्त्री नाटकीयता का विरोध करने का जोखिम नहीं उठाया; मात्र पूँजीवाद का वैचारिक विरोध जारी रखा या अन्त-र्राष्ट्रीय वामपंथी सक्रियता के स्वागत में लिखा लिया; मुझे उनसे असहानुभूति नहीं है, क्योंकि वे आगामी दीर्घव्यापी जन-युद्ध की तैयारी में लगे रहे और मौजूदा जन-स्थितियों को अपरिपक्व क्या,—आपातकालीन दमन से गहरी सामू-हिक बेहोशी के बतौर,—व्यापक त्रास, अनिर्णय और यथास्थिति की प्रतिगामी जकड़न मानते रहे। वे विचारधारा का अपव्यय और दुष्प्रयोग भी यह साबित करने के लिए करते रहे कि स्वयंस्फूर्त्त जन-उभार के वाहक ही तानाशाही के आवाहक हैं। वे सचमुच धन्य हैं! वैसा रहें।

मैं प्रस्तुत कविताओं के द्वारा,—अब देश-व्यापी जन-मत की रोशनी में, जनवादी कलम से, रणनीति की उस दिशा में खोज-बीन करना चाहता हूँ, जिधर सांगठनिक सक्रियता की नयी प्रक्रिया में, फौरी और कायमी तौर पर जन-शत्रु के द्वारा बहाल बिचौलियों से निबटना इसलिए भी लाजिमी माना जाता है कि उन्हीं की भूमिका जनता की सीधी लड़ाई के लिए परिस्थितियों के पकने में व्यापक बाधा उत्पन्न करती है।

राजेन्द्रप्रसाद सिंह
आधुनिका, खबड़ा रोड, मुजफ्फरपुर

तीन राजनीतिक कविताएँ / राजेन्द्रप्रसाद सिंह

शत्रु की सीध में

खबरदार ! हर मुहिम पर लड़ते साथियो,
खबरदार ! हमारी नीयत, बतौर भीतरी चेहरा,—
सब के देखने की चीज नहीं है;
क्योंकि वही एक दीर्घजीवी ऋतु है,
जो हरे-पीले जंगल की आग-सी घुआँती-धुँधुआती,
जड़ों से शाखों और पत्तियों में रेंग रही है अभी, अदृश्य;
फूट पड़ने को कभी,—रस सोखती किरणों की किरचों
और हवा की नटकैती के खिलाफ़ !

वह भीतरी चेहरा—
उनके देखने की चीज तो हर्गिज नहीं है—
जो हमारे शत्रु नहीं, शत्रु की सीध में खड़े हैं !
वे खड़े हैं, जिन्हें शत्रु होने की हैसियत, औक़ात
और लड़ने की जुर्रत भी नहीं;
जो हमारे अन्तर्बन्धों में आकार लेते युद्ध को सिर्फ विरोध
और अपने बिचौलियेपन का विरोध समझकर खुश हैं;
इतरा रहे हैं, बग़ैर महसूसे मौसम की अहमियत,—
जिसमें फ़कत हवा से जल रहे उनके सुपरिचित कपड़ों
और अनखाती बदबू से—फ़ाइल, बर्तन और तकिये भरे हैं।
उन्हें मालूम हो कि हम उनके विरोध में क्या
—मानव-शत्रु से युद्ध में हैं !
उनकी खुशी और इतराई 'नर्वस' हो जाने के सबूत हैं;
जो बौखलाकर यों कहते हैं—
'हमने कभी कोई सफ़ाई नहीं दी और न ली;

हमारे विरोध में खड़े किये गये सारे मुद्दे हवाई हैं !'
साथियो ! अब आप लगाएँ ठहाके ज़ोर से, और ज़ोर से;
—आभा कँपाती बिजली की कड़क-सा ठहाका, फिर ठहाका;
तब पूछें—'विरोध से कान पर जूँ भी नहीं रेंगती
तो नतीजा कैसे निकला कि मुद्दे हवाई हैं ?'
टूटते तिलिस्म के तहख़ानों से भागते
पहरुए और ख़िदमतग़ार वे मशालें फेंक चुके हैं,—
जो लपटें नहीं, जलते प्रश्न-चिह्न उगल रही थीं।

ख़बरदार ! हर मुहिम पर लड़ते साथियो, ख़बरदार
विरोध की नीयत खोली नहीं जाती;
रण-वार्त्ता तो होती है,—रण-नीति बोली नहीं जाती;
ख़ासकर उनके सामने, जो (फिर कहता हूँ)
हमारे शत्रु नहीं, शत्रु की सीध में खड़े हैं !
खड़े हैं विपक्ष में वे,—टिन की तलवारें भाँजते हुए;
जो पूर्वाग्रहों में गुँथे, मनगढ़न्त आरोपों से
अपनी कहानी हम पर चस्पाँ करेंगे।
वे झुँझलाकर नंगे हो जाएँगे, कीचड़ उछालने
कि खरीदे गये कदाचार से हमने हवाई विरोध खड़ा किया !
वे और क्या बोलें, क्योंकि आप जानते हैं साथी !
इसी फ़न के उन्हीं माहिर उस्तादों से हमारा शत्रु
कदाचार ख़रीदता और मवाद उछालता रहा
और हम मुहिम पर दरम्यानी बिचौलियों को शिखंडी बना,
अपने और हमारे बीच लड़ाई में डालता रहा !

अँधेरे की पट्टियाँ उखाड़ते हुए हाथों ने
अब हवा के छिलके भी उतार दिए !
साथियो ! ख़बरदार !
वे शिखंडी, जनखे, हमारे शत्रु के विदूषक हैं;
बहाल हैं हमें उलझाकर रोकने के लिए,
—जब तक जवाबी पैंतरा न जम जाए !
तभी,…तभी वे नाज़ो अन्दाज़ में कहेंगे—
'ऐ लो,—आख़िर हमारा सामना करना ही पड़ा;

जुझारुओं को यों गिरते देखकर वाकई तक़लीफ़ हो गई !'
—सुनते ही गोली की जगह
बेसाख्ता हँसी छूट पड़ेगी ।
कुछ और रोक लेने को भौंहें चढ़ाकर वे पूछेंगे—
'हाय ! रंगत क्यों उड़ रही है ? आवाज़ कैसे बैठ गई ?
पछतावा हो रहा ? आखिर ऐसी भी क्या बेबसी है ?'
—फिर नखरे दिखाते ख्वाज़ा सराह मटकेंगे !
आप फिर ललकारने से अलग, हँसते रहेंगे
और वे ग़र्दोग़ुबार उठाते, चक्कों पर चढ़ते-उतरते;
तेवर दिखा, शेखी बघार, चुमकारकर रिझाते,
रंगीन दुपट्टों की झंडियाँ हिलाते, रुपयों के दाँत चमकाते,
आपके नैतिक मिजाज़ पर प्रहार करेंगे !
वे किसी भी पहलू से कुछ भी पकड़कर
आपको उत्तेजित करने को बार-बार टोकेंगे,
टिन की तलवार भाँजते हुए रोकेंगे;
तब समझेंगे आप कि उनका इरादा क्या है ।
वे विरोधी दृष्टियों के बीच चुनाव नहीं कर रहे !
सीधे संघर्ष के अभाव का फ़ायदा उठा रहे हैं ।
वे हमारे शत्रु की सीध में खड़े, बसन्त-बहार गा रहे हैं !

क्षितिज की देग पक रही है,
उसमें वातावरण उबाल पर आ रहा है !
खबरदार ! हर मुहिम नर लड़ते साथियो !
जवाबी हमले का पैंतरा पूरा होने के पहले ही
उन्हें ठेलते-ढकेलते आगे बढ़ें आप, उनसे उलझें मत;
हाँ-हाँ, उन पर हथियार उठाना बेकार है;
यह इसलिए नहीं कि उनपर रीझ गये ।
बल्कि इसलिए कि वे शत्रु नहीं, शत्रु-सैनिक भी नहीं,
बकवासी विदूषक, शिखंडी, बिचौलिये, अकड़फूँ हैं;
शत्रु की सीध में खड़े उन लिच्चड़ों से लड़ना क्या ?
इस सार्थक युद्ध में वे हन्तव्य नहीं हैं !

वैचारिक ध्वजभंगी

निश्चरित्र लोगों से, उनके हवाई स्वभाव से
संवाद का रिश्ता तोड़ लेने से पहले, आप कहें,—
इस बार बिल्कुल साफ कह दें
कि उनके शब्दों के अन्त से शुरू की तरफ
और शुरू से भी अन्त की ओर लौटकर,
आपने जो पाया,—
वह टिन के डब्बे में बजते कंकड़ों की आवाज़ है,
—वह भी चुप्पी में बन्द नारों के बीच, और कुछ नहीं !

अभिवादन,—करते हैं वे मगर किस वाद्य का ?
कोई अगर 'अपनी डफली अपना राग'—बजाकर,
सिर्फ अपने शब्दों में 'बिठोवन' हो चला हो,
तो हवा को तमाचे मत मारे !
हाँ, किसी साज़ के उत्तर में बजाये और निमन्त्रण को
विरोधी का समर्पण समझ ले, तो बताना है उसे
कि उत्तर का रुख क्या है !

—सद्भावनापूर्ण ?—कुटिल शिष्टता का विशेषण और क्या है ?
सद्भावना हो, तो किसके लिए ?—यह दलील दीगर है !
यह होती है, तो उसीमें जो असम्पर्क को विरोध
और सम्पर्क को विरोधी का समर्पण नहीं;
फिर स्वयं को भी युद्ध के बगैर विजेता नहीं समझ लेता !
आपका तर्क होना चाहिए
कि विजेता ज़रूर कोई जुझारू ही होगा,
सिर्फ खाऊ-पकाऊ इन्तज़ार करने वाला नहीं !

वह क्या खाकर लड़ेगा,
जिसने रोमान के कपड़े चबाते हुए कैशोर को
और बोहीम के प्याले चाटते हुए जवानी को ज़ाया किया,
वही,वही अगर अधेड़ उम्र की सीढ़ियाँ चढ़ता हुआ,
विजेता की स्वांग में जुमला उछालता है
कि उसका पहला संवाद ही अन्तिम है, तो आप पूछें—
'क़ौन हो तुम शेष-नाम सामन्त,···योगी या दुश्मन के जासूस ?

जुझारू विजेता तो नहीं हो !'
प्रसंग चाहे जो हो, आप तो जानते हैं
कि खाऊ-पकाऊ या डरू इन्सान न जल्लाद होगा, न शहीद,
फिर उसका पहला पद-क्षेप ही अन्तिम कैसे होगा ?
तो तय है कि आरम्भ करते ही अन्त का घोषक,
—वैचारिक ध्वजभंगी है, आप जानें दें उसे डींग हाँकते,
बीमार से बदला नहीं लेते ।
कितना रोचक है यह कि वैचारिक ध्वजभंगी
बीमार रह कर भी, अपने आइने में तानाशाह होता है ।
बगैर लड़े, वह विजेता की मुद्रा में,
सामूहिक अभिभावक की भूमिका में, शेखी बघारता बोला—
'तुम जमीन ढूँढ़ो, अपनी ज़मीन,
(क्योंकि मेरा एक पंजा पूरी जमीन पर, दूसरा पानी पर है)
कहीं भी अपनी जमीन पर 'अटेन्शन' में खड़े हो, सलामी दो !
हवा में मत मँडलाओ,—खबरदार !'

उसे आप जम कर जवाब दें,—
'तुम महान हो मगर अपने ही शब्दों में,
हवा में मँडलाने से हमें इस लिए रोकते हो
कि दरअस्ल तुम्हीं, सिर्फ तुम्हीं हो हवा में,
तो कहीं टकरा न जाओ ।
हवा में उड़ते हुए धूल के बगूलों को
अपनी पूरी जमीन समझकर अभी खुश हो तुम,
पिछली पंचवर्षीय योजनाओं की अवधि में,
तुम घाटी के बादलों को भी जमीन समझ रहे थे,
तुम्हीं हो, तुम्हीं जिसने युद्धों के दिनों
सोडावाटर की नदी को अपना पानी माना,
उसका खारापन आँसुओं की बारिश से बढ़ रहा था,
अरे, तुम्हीं हो, जो हवा की गुलामी
जमीन और पानी के गले मढ़ रहा था ।'

ऐसे हवाई किलेदारों के हिसाब में हो सकता है,—
आप और हमलोग कहीं नहीं हों,

—हम लोग, जिनके पाँव
जनत्व की जमीन पर श्रम के गुरुत्वाकर्षण से टिके हैं,
—हमलोग, जो सिर्फ़
महत्वाकांक्षा की कक्षा पर वर्गों के मध्याकर्षण में लटके नहीं हैं,
—हम लोग, जिन्हें सारे औंधेमुँह त्रिशंकु
आँखें तरेरे और लार टपकाते हुए भी,--पंगु मान चुके हैं,
मगर इसलिए कि वे तो हमारे साथ
न मंजिल की चोटी चढ़ सकते हैं और न अपनी जगह टिक सकते हैं

ठीक है, विरोध का भी अपना चरित्र और चेहरा होता है
मगर उसे निश्चरित्र लोग नहीं देख सकते,
(टाटकी साथी भी नहीं) जबकि वे दिनान्ध, आत्ममुग्ध लोग
शोषण के बदलते मुखौटों के साक्षी हैं,
फलत: विरोध के बदलते चेहरे से मुँह मोड़े,
नाक-भौं सिकोड़े वे—अपने-अपने कुएँ में झाँकते,
दुत्कार रहे हैं—सिर पर मँडलाते दूरगामी तूफान को,
दुत्कार रहे हैं !

जनबोधी नवगीत

गाँव से चल कर शहर तक आ गये,
फिर सड़क से लौट, घर तक आ गये,
अब कहाँ जायें
अगर बाहर न जायें !

बात भीतर की, वही सदियों पली,
गाँव, पुर, घर की कहानी घिस चली;
राह क्या पायें
न जो खुद ही बनायें !

बँट गया ईमान भी दो टूक हो,
हाथ में थैली न, तो बन्दूक हो,
क्या उठायें वे
कि जो उठ ही न पायें !

कींच को चन्दन कहा,—अब क्या करूँ !
पेट प्रतिगामी रहे, तो क्या लड़ूँ !
क्या बढ़ायें हम
उन्हें, जो बढ़ न आयें !

छीलता रह जा, सयाने ! प्याज ही,
रोज पढ़ुए ! पढ़ सियासी राज़ ही;
क्यों रहें वे साथ,
जो खुद चल न पायें !

लो, सिखाओ बन्दरों को वर्त्तनी,
....और चींटों को चटाओ चाशनी—;
बस, वही हैं—
कभी बायें,—कभी दायें !

आत्मकथ्य

यात्रा अंतर्यात्रा, और अभिव्यक्ति

सवाल यह खड़ा होता है कि कविताएँ क्यों लिखी जाती हैं ? कई लोगों के लिए कविता लिखना प्रवुद्धता का प्रमाण-पत्र हासिल करना है; कई लोगों के लिए यह वैठे-ठाले अवकाश काटने का माध्यम है। मतलब है कि कइयों को कविता की लत होती है, कइयों को इसका नशा होता है, कई इसे रंगविरंगे फैशन-नुमा परिधानों की तरह ओढ़े रहते हैं।

मेरे लिए कविता की यह सृजनात्मक अनिवार्यता नहीं है। कविता मेरे लिए वेदर्द जिन्दगी का एक निर्मम अनुभव है, जिसकी अभिव्यक्ति के विना मेरी मुक्ति नहीं। यदा-कदा यह अनुभव सरस, रंगमय, और सुरूप भी हो जाता है, पर अपने अधिकांश में यह मन की वेदना की तीव्र कसमसाहट होता है।

अनुभव की निर्ममता के प्रति उत्तरदायी है निर्मम परिवेश, जो मुझे राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और भावनात्मक स्तरों पर घेरे हुए है। कविता की रचना इस परिवेश की क्रूरता को झेलने से होती है, इसके अग्नि-पथ से गुजरने से होती है, इसे संवेदात्मक स्तर पर भोगने से होती है। यह झेलना, गुजरना और भोगना ही रचनात्मक क्षणों में कविता वन जाता है।

कविता को खोजकर लाना नहीं पड़ता। वह आती है तेज धूप की तरह,वरसाती फुहार की तरह, भूकम्प की हिलोर की तरह, तलवार की धार की तरह। जव कभी मन भर जाता है वेदना से या आक्रोश से या संत्रास से या अन्याय से चीत्कार से, तो कविता शब्द-शिल्प में वँधकर पन्नों पर उतर आती है :—

> जब-जब लिखने बैठता हूँ,
> सारे जिस्म का खून
> उंगलियों की पोरों पर जमा हो जाता है।

इस तरह लिखना मेरे लिए एक त्रासदायक-यंत्रणा है, रचना प्रक्रिया और रचना के वीच का अंतराल एक मौत का अहसास है। अभिव्यक्ति इस अहसास से वचकर मुक्ति की सहज और सुखद पहचान है।

मैं कोई वायवीय रचनाकार नहीं हूँ। फूलों की महक, आवारा हवाएँ और शरारती नदियाँ मुझे आह्लादित करती हैं लेकिन जव अपने परिवेश के सुलगते सवालों से टकराता हूँ तो मैं कुछ समय के लिए अपने सौन्दर्य की आंकाक्षा को भूल जाता हूँ। आज तो मुझे छोटे आदमी के अस्तित्व के लिए समर्पित होना है, क्योंकि पक्षधरता मेरी वुनियादी आस्था है। कल मैं इस सौन्दर्य को भी वाणी

दूँगा, जो मादकता भरे कवियों को आज ही लुभा रही है। मेरी सौन्दर्य-यात्रा कल शुरू होगी, तब तक के लिए—

अपने दरवाज़े खुले रखो,
कल सुबह सूर्य की पहली किरण के साथ
बहार इसी वीरान क़ब्रिस्तान से गुज़रेगी।

रामदेव आचार्य
जेल के कुएँ के पास
बीकानेर (राजस्थान)

एक ग़ज़ल और दो कविताएँ / रामदेव आचार्य

ग़ज़ल

हो गयी मुश्किल यहाँ पहचान है।
थाल पूजा के लिये शैतान है।
क्या भरोसा तेरे-मेरे प्यार का,
ज़हर का जब नाम ही मुस्कान है।
रास्तों की भीड़ में भटके बहुत,
मगर पाया हर जगह सुनसान है।
खूबसूरत आपकी है यह अदा,
नफरतों में प्यार का ऐलान है।
ताजमहलों को रचा जिसने यहाँ
खण्डहर खुद रह गया इन्सान है।
सड़क गलियाँ और चौराहे सभी—
युद्ध में हारे हुए मैदान हैं
मंदिरों-गिरजाघरों की भीड़ से
डर गया औ' लापता भगवान है।
धर्मग्रन्थों में लिखे अभिशाप जो,
वे यहाँ समझे गये वरदान हैं।
मंज़िलों का है नहीं कोई निशां,
ख्वाब के जारी बहुत फ़रमान हैं।
खोज की हमदर्द की तो यों लगा;
हर गली, हर मोहल्ला वीरान है।

बहस मकान से

मेरे हाथ में कविता-पुस्तक देखकर
मेरा मकान जोर से हँस पड़ा—
'तुम कोरे कागज के कीड़े ही रहे,
स्याही के शोषक,
और कलम के बाजीगर।'

मकान को आदमी की तरह बोलते देखकर
मैं स्तब्ध रहा गया!

मकान व्यंग्यात्मक स्वर में कह रहा था—
'नीले आकाश के पार
परी-लोक में विचरण करने वाले
कल्पना-जीवी!
अपनी सनक में तुम इतना ही नहीं समझ पाये
कि आकाश की छतरी के नीचे
सिर छिपाने के लिए
अपना भी एक मकान होता है!'

इस बार मेरी मानव चेतना ने जवाब दिया—
'नीले आकाश की छतरी के नीचे
मैं अकेला ही नहीं,
लाखों बेमकाँ हैं।
आदमी के दर्द से अनजान ऐ मकान!
तू कविता के दर्द को क्या समझे।'

'तुम्हारी बात पर जी खोलकर हँसूँ,
या सिर धुन-धुन कर रोऊँ।'
मकान खीझकर बोला—
'तूने कविता में जिस दर्द की तलाश कर रहे हो,
वह मानसिक एय्याशी है।
स्वयं को जीवन का द्रष्टा मानने वाले
स्वप्न-जीवी।
दरअसल तुम जीवन के
क ख ग से भी परिचित नहीं हो!

दीन-दुनिया से बेखबर
हकीकतों से अनजान,
शिशु सुलभ चपलता के साथ
रंगीन छायाओं को पकड़ने के लिए
भागनेवाले आत्म-रति नायक !
तुम यह भी नहीं समझ पाये
कि तुम्हारी अपनी कविताएँ ही
तुम्हारे अस्तित्व से खिलवाड़ करती जा रही हैं !'

'क्या मतलब ?'
मैंने आश्चर्य से पूछा।

'तुम अगर मतलब समझ लेते
तो मैं तुम्हें 'स्वप्न-जीवी' क्यों कहता।
तुम्हें तो फिलहाल इतना अंदाज भी नहीं
कि मैं तुम्हारा नहीं हूँ।'

'तुम भी मेरे नहीं हो।'
मेरा आश्चर्य और भी बढ़ गया !
'बेरहम पत्थर-दिल !
तेरे प्लस्तर में मेरी कविताएँ मिली हुई हैं !
तेरी ईन्टों पर मेरी धारणाएँ लिखी हुई हैं।
तेरे आवासों में मेरे-मीठे प्रसंग सोये हैं।
तेरे जर्रे जर्रे पर मेरी यादें चिपकी हुई हैं।'

'पर मुद्दे की बात।
फिर भी मैं तुम्हारा नहीं हूँ।'
मुझे चिढ़ाकर,
इठलाकर मकान बोला।
एक उच्छवास के साथ मैंने कहा :—
'आखिर तो तुम
पत्थर-प्लस्तर ईन्ट हो
तुम आत्मा और आस्था के रहस्यों को क्या समझो।'
इस बार माकान ने क्रोधित होकर कहा—

'मैं पत्थर-प्लस्तर-ईन्ट ही सही,
पर तुम्हारे-जैसे बुद्धि-विलासियों से लाख अच्छा हूँ।
मेरे साथ अपने संयोग-वियोग जोड़ते समय
यह शाश्वत सत्य मत भूलो
कि तुम महज एक किरायेदार हो।'

'अब समझा तुम्हारे तर्क का तूफान।'
मैंने सहज मुस्कान के साथ कहा।
'मेरे संगदिल हमसफर।
तुम क्या समझो कि मानव-मानव में
अनुराग-भरा सम्बन्ध होता है,
इसलिए मकान-मालिक होने से
या किरायेदार होने से
कोई फर्क नहीं पड़ता।'
'चुप रह स्वप्न-जीवी।'
इस बार मकान ने मुझे निर्दयता से फटकार दिया।
'स्वयं को आधुनिक-बोध से सम्पन्न मानने वाले
खगोल-वासी!
तुम्हें इतना भी ज्ञान नहीं
कि दुनिया में अर्थ के अतिरिक्त
कोई रिश्ता नहीं होता।'

मैंने भी इस बार तड़प कर कहा—
'कविता के दर्द के आगे
अर्थ का अंकगणित अर्थ-हीन होता है।'

मकान ने अंतिम फैसला सुनाते हुए कहा—
'तुम्हारे जैसे दिमागी बाजीगरों से
बहस करना झख मारना है।
तुम कविता के दर्द को
मरे हुए बच्चे की तरह
सीने से चिपकाये रहो।
तुम अर्थ की महत्ता क्या समझो!

तुम्हारी कविता के पास केवल दर्द है,
या अपाच्य हकीकत है,
जबकि अर्थ के पास हैं
अदालतें। वकील। सनदें।
कूटनीतियाँ और गुण्डा-साजिशें।
मैं तुम्हें आखिरी चेतावनी देने के लिए मजबूर हूँ—
मैं तुम्हारे-जैसे
कागजी मरीजों को
अपने दर से निकाल कर ही दम लूँगा,
और तुम्हारी स्वप्नजीवी कविता
हमेशा की तरह
इस मोर्चे पर भी तुम्हें धोखा देगी।'

समर-संकल्प

[एक पौराणिक-सन्दर्भ]

अर्जुन
किसने कहा कि ये तुम्हारे कुटुम्बी-जन हैं ?
कौन कहता है
कि पशु भी पारिवारिक होते हैं ?
तुम्हें यह मति-भ्रम कैसे हुआ
कि शत्रु स्नेही बंधु हैं ?

पार्थ !
बिना युद्ध लड़े
सुई की नोक-भर ज़मीन न छोड़ने वालों को
रक्त-सम्बन्धी समझने में
कौन-से दर्शन का गरिमा-आदर्श है ?

धनुर्धर !
कुटुम्बी-जन
कपटी पाँसों के प्रपञ्च से
सगे बान्धवों को

पतन की पराकाष्ठा तक
कैसे पहुँचा सकते हैं ?

रक्त-सम्बन्धी
अपने भाइयों पर
निर्वासन का आदेश
कैसे आरोपित कर सकते हैं ?

पारिवारिक लोग
अपने स्नेहियों के निमित्त
लाक्षागृहों का निर्माण कैसे कर गये ?

वंशजों ने भरे दरबार में
तुम्हारी साक्षात् मर्यादा के
चीर-हरण का कुचक्र कैसे रचा ?

धनञ्जय !
शत्रुओं को स्नेही समझने का मोह
मन की क्षय-ग्रस्तता के अतिरिक्त
और क्या है ?

देखने-सुनने की क्षमता के बावजूद भी
आश्चर्य है भरतवंशी !
कि तुमने अपने गाण्डीव में लय-बद्ध
ललकार को नहीं सुना !
कि तुमने रथ के पहियों में कैद
व्यग्र गति के दर्शन नहीं किये !
कि तुमने शंख-नाद में अंर्तनिहित
जयकार की प्रतिध्वनि नहीं समझी !
कि मन के कोहरे को भेदने वाली
कृष्ण की गीता नहीं समझी !

धनञ्जय !
सियारों के सम्मुख
शेर को समर्पित देखकर
तुम्हारा सारथी और सखा
न केवल लज्जित, बल्कि विस्मित भी है !

पार्थ !
अनुनय-विनय की भाषा में नहीं,
गीता के युद्ध-श्लोकों में
तुम्हारा सारथी
तुम्हें धनुष की शपथ के साथ
युद्ध के लिए ललकार रहा है।

अर्जुन !
अन्याय के सम्मुख
वैराग्य का अर्थ
नपुंसकता है।
दुष्टता के प्रति बन्धुत्व का मोह
अस्मिता की अंतिम क्षति है !

समय ने
कर्म-हीन संन्यासियों को
कब सम्मानित किया है कुन्ती-पुत्र ?

पार्थ !
जो मृत हैं,
वे जीवित को मृत घोषित कर रहे हैं,
और जीवित
मोह की मृत्यु-पीड़ा से
मरे हुओं से भयभीत है !

अपनी भुजाओं को
शर-सन्धान के लिए
सञ्चालित करो धनुर्धर !
नहीं तो कपटों के व्यापारी
तुम्हारे धनुष और बाण को भी
दाँव-पेच की नीलामी पर चढ़ा देंगे !

अर्जुन !
मोह के आवरण में
आज यदि तुम

स्वयं से ही अदृश्य रहे
तो कल के सूर्य का रथ
तुम्हारी जीवित देह को
मृत मानकर
तुम्हें रौंदता हुआ—आगे बढ़ जायेगा,
और मानव-इतिहास में
तुम्हें देह-धारी मुर्दे के रूप में
कलंकित छोड़ जायेगा !

●

आत्मकथ्य

बहुत दिन हुए—मैंने एक अंग्रेजी फिल्म देखी थी। फिल्म का कथानक-दृश्य 'युद्ध' से सम्बन्धित था। एक बटालियन का एक सैनिक, दूसरी बटालियन की एक तरुणी सैनिक दोनों खण्डहर में छिपे हुये हठात मिल जाते हैं। धायें-धायें की आवाजें जब कुछ शान्त हुईं तो दोनों वहाँ से भागते हैं। रास्ते में एक जगह खड्ढे में रात काटते हैं। नींद दोनों को नहीं। भूख से बुरा हाल। अचानक युवती ने ब्लाउज में हाथ डाल मुर्गी का एक अण्डा निकाला। युवक देखकर हैरान रह गया। लेना चाहा। युवती ने नहीं दिया। ब्लाउज के भीतर रखकर वह नींद लेने लगी। बगल में लेटा—जागता युवक इस कोशिश में था कि युवती के निद्रामग्न होते ही वह अण्डा निकाल कर गले के अन्दर कर ले। भूख ने दोनों को विकल कर रखा था। ब्लाउज की तरफ उसने हाथ बढ़ाया और आहिस्ते से अण्डा खींच लिया। तब तक बन्द पलकों के भीतर जागती युवती ने सैनिक का कंधा पकड़ कर अण्डा ले लिया।···तात्पर्य यह कि भूख के आगे प्रेम, वासना का कहीं पता ही नहीं था। करोड़ों की संख्या में जब लोग प्रायः भूखे हों, तो कवि-कर्म यह होना चाहिये कि आज की कविता में सौन्दर्य-बोध, वासना, रहस्य-अध्यात्म से परे उस भूख का चित्रण हो। उस 'भूख' से सम्बन्धित सारी स्थितियों का चित्रण हो। फिर आप 'समय' के साथ हैं। 'मानवता' के साथ हैं]

ललित
जी० टी० रोड, औराई
(वाराणसी)

तीन कविताएँ / ललित

आम आदमी

वह आम आदमी,
जिसके लिये तुम, हम सब
आँसू बहाते हैं, घड़ियाली
[सिर्फ कथा-कहानियों में]
क्या कभी जाना कि इन आँसुओं का
दर्द कितना सच है !
[आँसू और उसका दर्द भला तुम क्या जानो—सारिके !]
दोस्तो ! क्या यह चरम सत्य नहीं
कि दूसरों के लिये चिल्लाने में

अपनी आवाज़ और अपनी ही
अँतड़ियों का बल घिसता रहता है।

[जब कि इस घिसाई में एक 'समान्तर' नारा चलता है]

हम सब अपना स्वार्थ पहले
देखते हैं और 'आम आदमी'
का सहारा लेकर शराब पीते हैं
और मन ही मन लड्डू खाते हैं—
कि हम टाटा-बिड़ला क्यों नहीं
हो पा रहे हैं ? दोस्तो ! क्या यह सच नहीं ?
वह 'आम आदमी' जिसके लिये
हम सब बहुत कुछ सोचते हैं—

[सिर्फ कथाओं में 'आम आदमी' की चर्चा कर हम रियाज़ मारते हैं]

चिल्लाते हैं, वह हमारे भीतर ही है,
बाहर कहीं नहीं ! हम-सब के लिये !
दोस्तो ! आँसू बहाने, चीखने से
विषैली हवा नहीं बदलती।
क्योंकि तीस वर्षों से ठेकेदार आदमी
'आम आदमी' के लिये चिल्लाता रहा
और हवा को अपने माफ़िक फेरता रहा।
कुछ करना ही हो तो दोस्तो !
चीखना बन्द करो और कुछ करो ऐसा
कि वह 'आम आदमी' भी वही करने लगे।
बहत्तर घरों के तिलिस्म को
तोड़ने में बाहर का वह 'आम आदमी'
हम सब के साथ होने लगे।

हम सब

'आप अपना समर्थन दें मुझे,
मैं आप को खुशहाली दूँगा।'
सबों ने आज तक यही कहा
और वे सभी खुशहाल हो गये।

समर्थन देने वाले और अधिक
कंकाल हो गये।

हम सब समर्थन देने वाले लोग
दरअसल राजनीति नहीं जानते
हमारे लिये आचार संहिताएँ हैं,
मन्दिर-मस्जिद हैं, धर्म निष्ठाएँ हैं,
वे तो पानी छूने की जगह
काग़ज़ का इस्तेमाल करते हैं
सेहत के लिये जामे-सेहत पीते हैं,
हमारे लिये नशा बन्दी है,
उनके लिये नशा सस्ती है।

हम सब दरअसल कुछ नहीं जानते
तुलसीकृत रामायण पढ़ते हैं और
प्रजातंत्र के दुर्भाग्य में जीते हैं
महज एक रात की रोटी की क़ीमत
और आने-जाने का खर्च पाकर
उनके जुलूसों में शामिल होते हैं,
गाँवों से आ आकर।

माना कि—
सत्ता का पावा जब हिलता है,
तब उसे हमारी याद आती है
बाज़ार थोड़ा नरम हो जाता है
हमारे लिये बड़ी-बड़ी बातें होती हैं,
और योजनाओं से अखबार पट जाते हैं
फिर सारे के सारे अखबार
रद्दी में बेंच दिये जाते हैं,
और दफ्तरों की फाइलों से योजनाएँ—
चुपचाप भाप बन उड़ जाती हैं।
न रहता है बाँस न बाजती है बाँसुरी
यह माया है—आसुरी।···

व्यवस्था

जो घर तुमने बनाया था
उसकी छत उड़ गई
ढह गईं सारी दीवारें
चूना-सुर्खी, ईंट,
सारी की सारी चीज़ें
मलबे में चली गईं
फर्श में भी दरारें पड़ गईं।

खोखली नीतियों से हट कर
कुछ सोचना है हमें
आओ—हम,
ठोस जमीन का चुनाव करें
जिस पर युवा-पीढ़ी के पैर
टिक सकें।
फिर, फर्श तैयार करें
लोगों को लेकर, दीवारें खड़ी करें
और ऐसी छत बनाएँ
जिसका कायम रहना
कई शताब्दियों तक निश्चित हो।

●

आत्मकथ्य : जातीय स्मृति के कवि का

जातीय स्मृति की बात हमने अपने यहाँ पश्चिम से आयात की है। सर्जना और विज्ञान के सभी क्षेत्रों में; पश्चिम ने ही इस युग में सारे नूतन अन्वेषण के आविष्कार किये हैं। जातीय स्मृति के गहन मनोवैज्ञानिक सत्य को भी पश्चिम के ही मनोविज्ञानियों और नृतत्त्व-शास्त्रियों ने खोज निकाला है।

दिलचस्प यह है कि इस खोज को हमने भी अपनी सर्जनात्मक कलाओं में अपना तो लिया है, लेकिन इसके गहरे अभिप्राय से शायद हम भी अनभिज्ञ हैं। जातीय स्मृति का सम्बन्ध मनुष्य की इस अन्तरतम पुकार से है कि वह अपने उद्गम का पता पाये। किसी भी देश की आदिम सभ्यता के अन्वेषण पर यह बात समाप्त नहीं। हमारी जाति की सबसे पहली जातीय स्मृति प्रलय की है। महाअन्धकार में से उमड़ता जल···जल···जल। लेकिन बात यहीं नहीं रुकी। वेद के ऋषि-कवियों की खोज उस प्रलय के तथ्य को भी भेद गई। उन्होंने पूछा, क्या सबके आदि में जल था। पानी सृष्टि के आदि उद्गम की तलाश से लेकर मनुष्य की चरम नियति के निर्णय तक ऋग्वेद के उशनस कवि ने एक विराट काव्य-यात्रा की है।···और केवल भारत के ही नहीं, सारे संसार के आदि धर्मग्रन्थों से लगाकर उनकी पुराण-कथाओं तक में, उद्गम से अन्तिम अभीष्ट तक की मनुष्य की चेतना-यात्रा का ही सर्जनात्मक और काव्यत्मक उद्गायन हुआ है।

यदि भाई ललित ने मुझे जातीय-स्मृति का कवि कहा है, तो सच ही कहा है। और उपरोक्त परिप्रेक्ष्य में ही आप मेरे जातीय-स्मृति के कवि को सही पहचान पा सकते हैं। मिथकीय प्रतीकों की मेरे यहाँ बहुतायत है। और मेरे ये मिथक भारत तक ही सीमित नहीं हैं। मिस्री, ग्रीक-रोमन, क्रीस्तियन और अन्य सभी जाति-धर्मों की प्रज्ञा के व्यंजक मिथक मेरी कविता में स्वतः उद्बुद्ध हुए हैं।

यहाँ मेरी तीन अपेक्षाकृत लम्बी कविताएँ प्रस्तुत हैं। 'कल्की' में इस युग की विप्लवी पीड़ा और पुकार के उत्तर में कल्की-अवतार के मिथक का एक स्वतंत्र नवमूर्तन किया गया है। 'तुम्हारा विषपान' में शिव-पार्वती से आरम्भ होकर क्रूस के प्रतीक का अतिक्रमण कर, 'नीत्शे के सिफलिस' का आधुनिक मिथक रचते हुए बाल-दक्षिणेश्वर की महाकाली को बम्बई के वेश्या बाज़ार में भटकते देखने तक पहुँच गई है। और फिर 'तुम्हारे और बिस्तरे के बीच' कविता में तथागत बुद्ध और परित्यक्ता यशोधरा के बीच की ग्रन्थि को आज के मनुष्य के तीखे प्रश्न की धार पर कसा और छोड़ा गया है।

पूर्वग्रह से ऊपर उठे, विज्ञ और मर्मज्ञ पाठक को इन कविताओं से यह प्रतीति

हो सकेगी कि मेरा मिथक-नियोजन अतीत-धर्मी नहीं, शाश्वत चेतना धारा में से उद्गीर्ण हुआ है। इसी से वह अत्याधुनिक है; क्योंकि वह केवल आज पर भी समाप्त नहीं, बल्कि मनुष्य की आगामी अभीप्सा और सम्भावना का स्वप्नद्रष्टा, मूर्तिकार और शब्दकार है।

वीरेन्द्रकुमार जैन
गोविन्द निवास, सरोजिनी रोड,
विले पार्ले (पश्चिम) बम्बई–५६

तीन कविताएँ / वीरेन्द्रकुमार जैन

कल्की

आधी रात :
नदी की दूरान्तिनी खोह में
    बज रहा है यह कैसा मृदंग :
और तट के अँधियारे जंगल में
चली आ रहीं बेशुमार मशालें
    वे मशालें दूरियों में ही आती रहती हैं
        पास नहीं आती हैं।
धरती के भीतर एक कराह है,
    सर्वत्र
यहाँ-वहाँ सब कहीं !
एक कसकते व्याकुल गर्भ की टीस
    आह, प्रसव-वेदना !
दूरान्तों में अविरल और अखंड
        घोषित है मृदंग
ताण्डवी डमरू सा हो उठा है उसका घोष
उसमें एकतान और एकताल
घनन्नोदित हैं इतिहास की सारी शताब्दियाँ
महाकाल के अन्तरालों में प्रच्छन्न
असंख्य शोषित-पीड़ित नर-नारियों की
        आहें और कराहें
युद्ध-दानवों की हुंकारें :
माँ के सीनों को रोंदते विजेताओं के
        घोड़ों की टापें :

जलते नगरों और गाँवों की विध्वंस-ज्वालाएँ,
आधी रातों में घर-नगर छोड़ कर भागते,
निर्यात करते लक्ष-लक्ष नर-नारी, बालकों, वृद्धों के
समवेत आक्रन्दन और चीत्कारें
महाभारत से लेकर वीयतनाम और बँगला देश तक की
निर्दोष खून की नदियाँ :
हिरोशिमा और नागासाकी के अप्रत्याशित परमाणु-बम-विस्फोट :
आलिंगित प्रेमियों की एकाएक
चिताओं में लीन होती चुम्बन-ध्वनियाँ
माँ की दूध से उमड़ती छाती को पीते
मासूम शिशु के अचानक ठण्डे हो गये ओंठ ।
महलों की नींवों के ठण्डे अँधियारों में
कीड़ों से कुलबुलाते स्लम और ब्रॉथल
नर नारी के आलिंगन नहीं,
केवल लिंगों और योनियों के अन्धे,
निरानन्द प्राणिक संघर्ष :
उनमें से प्रसव होते बच्चे नहीं
क्षय और प्लेग के कीटाणु,
कैंसर की रक्तविरोधी गाँठें
लाचार गर्भपातों के अन्धे
और आकारहीन डिम्ब :
नारियाँ नहीं, माँएँ नहीं, बहने नहीं, प्रियाएँ नहीं,
पत्नियाँ नहीं···
समर्थों के सिफलिस और गिनोरिया को
चुपचाप सह ले जाने और बहा ले जाने को मजबूर
अण्डर–गाउण्ड नालियाँ—
तथाकथित योग-अध्यात्म की अनासक्तियों से ढँकी हुई,
देवालयों, धर्मशालाओं, दानशालाओं, आश्रमों से पटी हुई ।
····वात्सल्य और उष्माभरे घर नहीं :
वेश्यालय
केवल आर्थिक कॉन्ट्रैक्ट पर आधारित :
प्यार नहीं, पैसे से सुगम और सुलभ

हो जाने वाले बलात्कार,
समर्पण की भ्रान्तियाँ उत्पन्न करते-से :
महलों की ठण्डी और अन्धी नींवों में
कैद और घुटता हुआ भगवान :
असंख्य पीड़ित मानवों की नाड़ियों में
चीत्कारता
उसका मूक आर्त्तनाद नहीं, अनहदनाद !
...दूरान्तिनी नदी की खोह में वजता मृदंग,
प्रचण्ड से प्रचण्डतर घोष करता हुआ
पृथ्वी और समुद्र के गर्भ को हिला रहा :
आकाश के गुम्बद को विदारित कर रहा
असंख्य मुर्दों का कोरस-संगीत !
...और गंगा, वोल्गा, अमेझन, राहिन, थेम्स्
और तुई नदी की
पददलित और लहूलुहान कोंख से—
लो, हुआ अचानक, एक अकाल गर्भपात !
फोड़कर उस कच्चे डिम्ब को,
बिजली के तीर सा फट पड़ा एक अश्वारोही :
उसके मस्तक पर लहरा रहे हैं
नील-लोहित लपटों के शतकोटि व्याल :
उसके ललाट-नेत्र में जाज्वल्यमान है
अपने आप में स्थिर ज्वाला-सी
अनाहत और समाहित आद्याशक्ति :
उसकी आँखों में प्रवाहित हैं नूतन सृष्टि के वैश्वानर ;
उसके रोम-रोम में चक्राचित हैं महाविष्णु के चक्र :
उसकी बाँहों से सन्ना रहे हैं महारुद्र के कोटि-कोटि त्रिशूल :
उसकी छाती में
सती के शव को कन्धे पर लाद कर जा रहे हैं शंकर :
उसके चरणों से उठ-उठ कर
उसकी जंघाओं में लिपट रहे हैं
अनन्त रोमाग्नियों के हुताशन,
अविराम आहुतियाँ माँगते हुए :

और स्वयम् महाकाल है उसका घोड़ा !
…पलक मारते उस घोड़े ने एक छलाँग भरी :
और करोड़-करोड़ आकाशगामी महलों,
रॉकेटों, एटम-बमों को भूमिसात करता हुआ,
खगोल को अपनी मुट्ठी में भींचता हुआ
वह अश्वारोही
पृथ्वी के चिर व्यभिचरित गर्भ में जा धँसा :
…यों कि वह गर्भ आमूल उलट कर बाहर आ गया,
नग्न, निर्बाध, लज्जातीत, पवित्र और उज्ज्वल :
एक रूपान्तरित पृथ्वी :
कि अब उसके किसी भी जाये की राह
कोई नहीं रूँध पायेगा :
कि अब भीतर और बाहर में
भेद नहीं रह जायेगा !
…अकलंक वेश्या-माँ की गोद में
अवतरित हुआ
आगामी युग का सूर्य-पुत्र
कल्की !

तुम्हारे और बिस्तरे के बीच

ऐसा नहीं लगता
कि तुम अपने बिस्तरे में सोये हो :
तुम्हारे और बिस्तरे के बीच
शताब्दियों की एक खन्दक खुल गयी है :
उसमें आदिम नारी की योनि
परित्यक्त, पराजित और पथरायी पड़ी है :
एक अथाह गुहा-कूप में
रहस्य का जल-कम्पन नहीं
प्यासी हिरनी की बिंधी हुई आँखों के
निस्पन्द काँच हैं :
उसके ऊपर के झाड़ी-झंखाड़ों में
केवल साँपों की कोमलता

सरसरा कर गुज़र जाती है
उचाट दोपहरियों में :
दो फूटे घड़ों-से दो स्तन इधर-उधर लुढ़के पड़े हैं :
उनके ठीकरों में उग आयी है निरर्थक घास :
उनकी मृदुता और ऊष्मा के अनन्त को
बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण की पदचाप
सदा को कुचल कर चली गयी...।

...निर्वाण के शून्य में
ठिठके रह गये हैं शास्ता के चरण :
कमण्डलु में काँप गये एकाएक
दो दूध से उमड़ते स्तन :
और छूट कर गिर पड़ा सहसा कमण्डलु
बोधिसत्व के उद्‌बोधक हाथ से...।
फिर भले ही यशोधरा के आँसू
अनपोंछे और अवहेलित ही सूख गये हों :
भले ही वे डूब गये हों
कैवल्य की शताब्दियों-व्यापी जयकारों में....!
...आत्मन, तुम्हारे और तुम्हारे बिस्तरे के बीच
फैल गयी है जो अन्धकार की खाई
इस आधी रात में :
उसमें छटपटा रही है एक परित्यक्ता की शैया :
संसार और निर्वाण के बीच ठिठके
दो चरणों में
गाँठ पड़ गयी है :
जो उलझती ही जा रही है,
किसी भी तरह खुल नहीं पा रही है...।
मुक्त हैं केवल
विराट् में दूध से उमड़ते दो स्तन,
जिनके और तुम्हारे बीच
पड़ा है ग़लतफ़हमी का एक महाकाल सर्प :
जिसे मनुष्य की युगान्तर-व्यापी तपस्या भी
जीत नहीं पायी है...!

नहीं जन्मी है अभी वह अनामा
जो आप ही हो जाये तुम्हारी शैया :
आत्मन्, सहा नहीं जाता है
अब तुम्हारा यह अनसोया बिछौना :
एक लपट, जो तुम्हें जला भी नहीं पाती,
और जीने भी नहीं देती ।

तुम्हारा विषपान

अब तक नहीं सिरजा गया सृष्टि में
वह हृदय :
जो तुम्हारी इस अनोखी वेदना को
पहचान सके, और सहन कर सके :
जगत की तीक्ष्णतम छुरियाँ
पराजित खड़ी रह गयी हैं
तुम्हारे ज़खम के किनारों पर··· ।
जो ज़हर तुम अपनी नसों में धारण किये हो,
वह शिव के विषपान से परे का है :
क्योंकि तुम देवता नहीं मनुष्य हो,
और अज्ञान के जंगल में जाने कौन
तुम्हारी पार्वती का अपहरण कर गया है··· !
तुम्हारी जटाओं में खेलते सर्प
उसके दाह से त्रस्त हो कर
दिगन्तों में छा गये हैं··· !
जगत के सारे रास्ते असूझ हो गये हैं ।
असीम निर्जनता में जलती
इस एकमेव वह्निमान ज्वाला में
सारी अग्नियाँ आत्मसात् हो गयी हैं :
विराट् के मण्डलों में दूर-दूर तक
सृष्टि का कोई निशान बाक़ी नहीं रह गया है :
जीवन अपनी ही निःसारता के क्षितिजहीन वीरान में
एकाएक जाने कहाँ लुप्त हो गया है··· ?
क्रूस-वहन की कई शताब्दियाँ स्तब्ध खड़ी
देख रही हैं :

कि तुम्हारी छाती से बहते ख़ून से भयभीत हो कर
तुम्हारा क्रूस स्वयम् ही तुम्हें छोड़ कर भाग गया है :
और वह एक नीली आँखों वाली नाज़ुक लड़की-सा
दूर पर खड़ा
तुम्हारे ज़ख्मों को निहार कर रो रहा है··· !
सौन्दर्य-देवता कीट्स् के
क्षय के सूराखों से टीसते फेफड़ों को
इटाली में अकेले मरने को भेज कर,
फ़ानी ब्रान कमतर नौजवानों के साथ
नाचने को
आधी रात के जश्नों में गयी है··· ।
पृथ्वी पर भूल से भटक गये
देवदूत शेली की पीठ में छुरी भोंक कर
उसकी कमसिन और हसीन प्रिया
एक फौजी सिपाही के साथ भाग गयी है ।
बॉदलेयर का अमर प्रेम-काव्य
उसकी विश्वासघाती प्रियाओं के
ज़हरीले ख़ून में नहाया हुआ है··· !
परमहंस, विवेकानन्द, अरविन्द, टैगोर
और गांधी के
सत्य और सौन्दर्य को खरीद कर
कालेबाज़ारियों ने उसे
अपनी प्रतिष्ठा के दीवानखानों का
फर्नीचर बना दिया है··· !
ओ मेरे अन्तर्देवता,
भगवान ने तुम्हें कंगाल कह कर,
अपने धनवान भक्तों की भरी सभा में,
तुम्हारी खिल्लियाँ उड़ाई हैं :
तुम्हारे सत्यवान-प्यार की सावित्री-कविताओं पर
उन्होंने भ्रष्टाचार का कलंक लगाया है··· ।
तुम्हारे भौतिक अभावों की भयावनी खन्दकों में,
तुम्हारी आत्माशिनी प्रिया की आत्मा
असत् और मरण के अन्धकारों में भटक गयी है :

तुम्हारे आत्मिक सौन्दर्य को पैरों तले दाब कर
तुम्हारी भौतिक असामर्थ्य के
मासूम और बेबस चेहरे को
किन्हीं नाज़ुक अँगुलियों के नाखूनों ने
लहूलुहान कर दिया है··· !
तुम्हारे आत्मार्पण से पावन आँसुओं पर
झूठे कलंकों और आरोपों के घूँसे मार कर,
लोग तुम्हारे ही ख़ून से उगी रोटी पर
··चिरन्तन हक़ का दावा कर रहे हैं··· ।
तुम्हारे प्यार के आबेहयात को पी कर
जीने वाले तुम्हारे सभी प्रेम-पात्र,
तुम्हें तुम्हारे एकाकीपन की क़ब्र में बन्द करके
उत्सव की परफ्यूमों-महकती सन्ध्याओं में
जश्न मनाने चले गये हैं··· ।
नीत्शे के विप्लवी वीर्य के सिफ़लिस में
भगवान ने आत्म-हत्या कर ली है···· !
आत्मन, यह इतिहास की निर्णायक घड़ी है :
या तो तुम पिशाच हो जाओ,
या तुम भगवान बन जाओ :
मनुष्य रह कर मानवों की दुनिया में
तुम्हारी इस निश्छल हस्ती को
जीने नहीं दिया जायेगा··· ।
दक्षिणेश्वर की महाकाली को
कल रात तुमने बम्बई के वेश्या-बाज़ार में
विक्षिप्त भटकते देखा था :
अपनी उस विपथगा माँ की चरण-धूलि को
माथे पर चढ़ा कर, तुम,
सारे पाखण्डी देवालयों का
ध्वंस करने को निकल पड़े हो
इस आधी रात में··· !
इसी से कह रहा हूँ मेरे प्यार,
कि महाकाल शंकर का विषपान
तुम्हारे ज़हर के प्याले के आगे
छोटा पड़ गया है··· ।●

आत्मकथ्य

ठीक-ठीक याद नहीं कि कब से कविता लिख रहा हूँ—शायद स्कूल लाइफ से ही पहले तुकबंदियां करता था, बड़ों की नकल, फिर अपने मन की बातें लिखने लगा। बाद में, ज्यों-ज्यों ज़िन्दगी की लड़ाई तेज होती गई, मैं कविता के करीब होता गया। कविता ने मुझे डूबने से बचाया है, कविता ने मुझे पागल होने से बचाया है। समाज के तथाकथित सफेद पोश लोगों से हर कदम पर ठोकरें खाने के बाद भी, मुझे अगर खुद को जीवित रखने और नई ज़िन्दगी की तलाश में अपने आप को लगाये, रखने की प्रेरणा मिली तो उसके पीछे कविता का बहुत बड़ा हाथ है। कविता में मैं वह सब कुछ कह लेता हूँ, जो किसी दूसरी विधा में नहीं कह पाता। कविता के द्वारा में अपने उस दर्द को खुलकर अभिव्यक्त कर पाता हूँ जिसे मैं किसी से—यहाँ तक कि अपनी माँ या भाई या पत्नी या दोस्तों से भी आज तक नहीं कह पाया।

इसीलिए किसी और आदमी के लिए कविता शगल हो सकती है, किसी की हाबी हो सकती है, मगर मेरे लिए वह एक आवश्यकता है। यह कहना संभव नहीं कि कविता ने मुझे या उस समाज को जिसमें मैं रहता हूँ, कितना बेहतर बनाया है, मगर यह तो बेहिचक कह सकता हूँ कि कविता ने मुझे जीवित रहने और लगातार संघर्ष करते रहने की प्रेरण दी है। जब कभी मैं निराशा के समंदर में डूबने-उतराने लगता हूँ, कविता मेरा हाथ पकड़ती है—और उसके बाद मैं तरोताजा हो जाता हूँ। हर बार, एक कविता लिखने के बाद, मुझे लगता—जैसे घुटनभरी ज़िन्दगी के दो-चार लमहे कम हो गये और यात्रा की थकान खत्म हो गई।

मैंने कभी भी नारेबाजी के उद्देश्य से कोई कविता नहीं लिखी है। यह मानते हुए भी कि सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों में कविता का भी योगदान रहता है, मैं यह कतई स्वीकार नहीं करता कि कविता नारेबाजी अथवा दलबंदी के लिए, कुछ गढ़े हुए सूत्रों अथवा फार्मूलों के सहारे लिखी जाय। बेशक, आज के दमघोंटू वातावरण में, नई जीवन-दृष्टि को वहन करने वाली रचनाओं की आवश्यकता है, मगर मुझे यह गवारा नहीं कि कोई दृष्टिकोण किसी रचनाकार पर इस कदर हावी हो जाय कि उसके वैयक्तिक सुख दुख और ज़िन्दगी के अन्य जीवंत अनुभव एक दम गौण हो जायें।

विजेन्द्र अनिल
प्रगति कार्यालय,
पो० बगेन,
भोजपुर (आरा) बिहार,

तीन कविताएँ / विजेन्द्र अनिल

दिनचर्या

हर सोमवार की सुबह में
मैं अपनी लाश
अपने ही कंधों पर लादकर
चलता हूँ दफ्तर की ओर
और हर शनिवार की शाम को
उसे दफ़ना देता हूँ
सोचता हूँ
रविवार को नया जन्म होगा
और अगले सोमवार से
शुरू होगी एक नई ज़िन्दगी
मगर यह सिलसिला कभी खत्म नहीं होता

ज़िन्दगी कभी नई नहीं होती
लाश कभी पुरानी नहीं होती
कंधे कभी कोई हरकत नहीं करते
और पाँवों ने कभी शिकायत के स्वर में
यह नहीं कहा कि यह यात्रा
कितनी नीरस है !

बचपन के वे दिन याद आते हैं
जब माँ से सुनी लोक कथाओं की
सोन चिरइया या उड़नखटोले
या फूलवंती रानी को
मैं अपनी सीलन भरी अँधेरी कोठरी में
बंद कर लेना चाहता था
और टकटकी बांधकर
कभी आकाश, कभी बादल, कभी चांद
और कभी चिड़ियों के झुंड को निहारा करता
वे सपने याद आते हैं—
जिन्हें मैंने भाषा की किताबों
और कविता की कापियों में

बड़ी मुस्तैदी से छिपाकर रखा था
मगर, समय ने कहा—
तुम पागल हो
सपने कभी भाषा की किताबों
और कविता की कापियों में कैद नही होते

मैंने भाषा की किताबें फाड़ दीं—
कविता की कापियाँ जला दीं—
और समय के साथ चल पड़ा
रोटी की खोज में
पत्नी के लिए साड़ी और ब्लाउज
बच्चों के लिए कपड़े, किताबें
और दवाइयाँ
और अपने लिए
कुछ नहीं
सिर्फ दफ्तर की मेज
एक घटिया कलम
और ढ़ेर सारी फाइलें

उनकी शिकायत है
मैं दफ्तरी बन गया
बीवी और बच्चों के लिए
रोटी, कपड़ा और दवाइयों का लेबुल बन गया
मुझे सफाई नहीं देनी है
सिर्फ़ यही पूछना है
कि उस औरत का क्या करूँ
जिसकी आँखों में अभी भी इन्द्र धनुष उगा है ?
उन बच्चों का क्या करूँ
जो आंगन में गेहूँ की नही
गुलाब की गांछें रोपते हैं
और जेबों में
छिपा लेना चाहते हैं
उड़न खटोले या फूलवंती रानी को ?

डूबने से पहले

मैं रेत के समंदर में खड़ा हूँ
दूर-दूर तक कोई पेड़-पौधा नहीं
चिड़ियों की चहक और भालू या चीतों की दहाड़ भी नहीं
सागर का नीला जल और उसकी गीली बालुका राशि भी नहीं
आसमान में सिर्फ सूरज है
और जमीन पर उसकी तीखी धूप
जिसमें बालू के कण गर्म पानी की तरह खौल रहे हैं
कहीं कुछ नहीं
सिर्फ एक सन्नाटा है
और ज्वालामुखी फूटने के पहले की चुप्पी

वे लोग कहाँ हैं, जिन्होंने इस समंदर को
लील लेने का संकल्प लिया था ?
वे लोग कहाँ हैं, जिन्होंने खौलते बालू
के सीने से ठंढे पानी का दरिया
निकालने का वायदा किया था ?
मैं देर से उन्हें खोज रहा हूँ
टकटकी बाँधकर कभी आकाश,
कभी हवा और कभी आस-पास बिखरी
धूप की पत्तों को देखता हूँ
कहीं तो नही हैं उनके पैरों के निशान
कहीं तो नहीं है, हवा में उनके साँसों की गंध
कहीं तो नहीं हैं, उनकी धुँधली परछाइयाँ

मुझे शंका होती है
उन्होंने चलने से पहले घरों कुर्सियों और
बाजार की ढेर सारी चीजों की ओर
ललचायी नजरों से देखा था
उन्होंने बच्चों की नींद और फूलों की मुस्कान चुराकर
अपनी जेबों में रख ली थीं
उन्होंने पत्नी की आँखों में बह आये आँसुओं से
अपनी आस्तीनें गीली करली थीं

क्या वे रास्ते में ही भरम गये ?
कहीं ऐसा तो नहीं कि घरों, कुर्सियों और बाजार की
रंगीनियों में वे अंटक गये ?
कहीं ऐसा तो नहीं कि वे बच्चों की नींद और
फूलों की मुस्कान से पिघल गये ?
कुछ भी हो सकता है,
कुछ भी नहीं हो सकता
मुझे तो अब अपनी स्थिति और इस समंदर
के बारे में सोचना है
रात के सन्नाटे में कहाँ मिलेगी पनाह ?
कहीं कोई गुफा तो नहीं
कि उसमें पनाह ली जाय

सुना है, आकाश के नीचे
इस समंदर में करोड़ों आदमियों की
लाशें दफना दी गई हैं
क्या वे तमाम लोग मेरी ही तरह
इस यात्रा पर निकले थे
और अकेले पन से ऊबकर
इस अथाह-बालुका राशि में डूब गये ?

सच्चाई क्या है ?
इसकी तलाश कौन करे
ढेर सारी सच्चाइयाँ पारदर्शी शीशे की तरह
आँखों के आगे तैर रही हैं···मगर
वे सिर्फ पढ़ी या देखी जा सकती हैं
अभी तो, सच्चाई सिर्फ यह है
कि मैं रेत के समंदर में खड़ा हूँ
और रेत खौल रही है—
क्या मैं इस समंदर में डूब जाऊँगा ?
सवाल डूबने का नहीं—
उसी दूरी का है
जिसे लांघकर यहाँ तक आया हूँ—
इसीलिए, डूबने से पहले

मुझे हवा में बारूद घोलनी होगी
जेब में कई करोड़ लोगों की आवाजें
लिये हुए यहाँ आया हूँ
उन आवाज़ों को हवा में बिखेर देना होगा
रात आये, इसके पहले ही
मुझे अपनी हर धड़कन को
धूप की पत्तों पर साट देना होगा
ताकि बाद में आने वाले राहगीरों को
मेरे निशान मिल जायँ
और हवा सीटियाँ बजा बजाकर
जिन्दगी और मौत के फासले से
लोगों को अवगत करा सके

क्रांति

हर रोज
आधी रात को
एक खूबसूरत लड़की
मेरे सिरहाने खड़ी हो जाती है
उसकी आँखें सूर्ख हैं, बाल बिखरे हैं
सिर से खून की कई पतली धाराएं निकल रही हैं
उसके बायें हाथ में एक किताब है
और दायें में एक नुकीला हथियार
मैं कुछ कहूँ
उसके पहले ही कमरे में
उसकी आवाज गूँजती है—
उठो वे लोग तुम्हारा इन्तजार कर रहे हैं

बाहर कोलाहल सुनाई पड़ता है
मैं उठूँ इसके पहले ही
वह कमरे से निकल जाती है
मैं दरवाजे पर आकर

उसे तलाशता हूँ
मगर, वहाँ तो एक उत्तेजित भीड़
एक झंडा है,
नुकीले हथियार हैं
और हवा में गूँजती हुई वही
परिचित आवाज
आओ ये लोग
तुम्हारा इन्तजार कर रहे हैं

●

आत्मकथ्य

कोई एक बिन्दु था, जहाँ यह समझने में देर नहीं लगी कि इस संघर्षरत दुनियाँ में, मैं उन करोड़ों सामान्य लोगों में ही एक हूँ जिन्हें अपने चारों तरफ निर्मम शोषकों की आज्ञाकारिता से बंध कर चलना है। अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए अपने भीतर के सामंजस्य के साथ बाहर के संघर्ष में भी हिस्सेदार होना है ताकि वे इस आज्ञा-बद्धता से मुक्ति पा सकें। मारक शस्त्र लिए एक पक्ष मेरे सामने खड़ा है और एक बेचैन भीड़ भयभीत मुद्रा में लड़ाई के लिए सन्नद्ध है। प्रारम्भ में न मारक शस्त्रों के औचित्य को समझ पाता हूँ न भीड़ की बेचैनी को—पर जैसे जैसे विशिष्टों की गिद्धी आँखें मुझे घूरने लगती हैं...मेरे सामने से भ्रम की टाटी हट जाती है और मैं यथार्थ की भूमि पर अपनी कलम लिए भीड़ का एक अंग बन जाता हूँ।

मैं उस जगह पहुँचता हूँ जहाँ से लड़ाई को तेज करने के लिए एक कोरस गाया जा रहा है। मेरी कलम में हरकत होती है, मेरे मन और मस्तिष्क पर जोर से दस्तक होती है और मैं पाता हूँ कि मैं खुद उस कोरस में शामिल हो गया हूँ। अपने इस स्थानान्तरण पर खुश होता हूँ।

मैं लिखता हूँ इसलिए कि, मैं अपने 'स्व' को सम्पूर्ण यथार्थ तक विस्तार दे सकूं। और जीवन जीने की स्वभावज शर्तों को पाने के लिए किसी भी स्तर पर संघर्ष को तीव्र बनाए रखूँ...अपने ही लोगों के बीच व्यापक सच्चाइयों की खोज करने, अपने अस्तित्व के प्रश्न को सबके साथ जोड़ते...सम्पूर्ण यथार्थ को खण्डों में से देखते हुए उसकी निरन्तरता को अनुभव कर सकूं।...सामान्यों के प्रति विशिष्टों की साजिशों के विरुद्ध आवाज उठाता रहूँ—विसंगतियों से लड़ता रहूँ और बेहतर जीवन के लिए प्रयत्नशील रहूँ। मैं जानता हूँ कि जब विश्व का बड़ा वर्ग अपने विरोधाभासों के बीच से गुज़रता, अपने सामान्य जीवन के लिए संघर्ष करता है, तब 'कुछ की' सुख-सुविधाओं का होना और अनेक का असुविधाओं में जीना, दर्शन की समस्या न बन कर, जीवन की समस्या होता है—मैं इसी समस्या को रचना के स्तर पर शाब्दिक अभिव्यक्ति देता हूँ।

इसीलिए मेरी कविताओं का संसार, प्रतिपक्ष का संसार है, उन लोगों की विवशता भरी आवाज़ों के शोर से भरा संसार है जो सदियों शक्ति और सत्ता के पद के नीचे खटते-पटते रहते हैं। उन्हें न न्याय मिल पाता है, न सामान्य मानवोचित जीवन-स्थितियाँ।

लेकिन मेरी कविताओं में आया मनुष्य अपनी विवशता, अभाव, कमजोरी से तो परिचित है ही, साथ ही संघर्ष की अदम्य जिजीविषा से युक्त है और वह

जानता है कि बेहतर समाज की स्थापना के लिए बाह्य क्रान्ति के साथ मन के स्तर पर होने वाली क्रान्ति की भी उपादेयता है—परम्परा, नैतिकता, संस्कृति बहुमूल्य तत्व गर्भित शब्द हैं पर इन सबसे बड़ा है—जीवन। दरअस्ल ये सब जीवन के लिए हैं—जीवन इनके लिए—इस परस्परता में भी महत्वपूर्ण है जीवन। और जीवन कोई वायवी अमूर्त धारणा नहीं, गतिमान और मूर्त है। मैं उस मूर्त और गतिमान को उसके गोचर संदर्भों में ही व्यक्त करता हूँ। यह मेरे रचनाकार का द्वन्द्व है।

डॉ० विनय
१७४—ई, कमला नगर
दिल्ली—११०००७

जय-पराजय / डॉ० विनय

जय...पराजय,
इतनी महत्वपूर्ण कभी नहीं हुई
...इससे पहले...
इतना क्षत-विक्षत नहीं हुआ था,
विवेक न्याय का...
मैं भी कहाँ टूटा था इस हद तक
कि अपने ही चुनाव पर संदेह करूँ!
कभी नहीं सोचा था, कि,
सत्य को प्रमाणित करने के लिए
गवाह जुटाने पड़ेंगे !!
मैं जानता हूँ
इस मुकदमें में मेरा वकील वही है,
जिसे तुमने अपने खिलाफ़ खड़ा किया है
...मेरा हर सच मुझसे छिटककर
तुम्हारे पास पहुँच जाता है।
मेरे पक्ष के सारे सबूत
अपने लिए बदलते तुम!
सिर्फ मुस्कुरा देते हो...पर्दे के पीछे!
अगर तुम चाहो तो लोग
हर वक्त कह सकते हैं
...आकाश में इन्द्रधनुष निकला है

मौसम बहुत अच्छा है—
हरियाली से भरा हर पेड़
तुमने ही सींचा है।
मतलब यह कि—
किसी भी मौसम का सूखा
तुम्हारी गलती नहीं,
हरियाली का रूपान्तरण मात्र है।
अगर तुम चाहो तो
तुम्हारे द्वारा बनाई गई ऊँची इमारतों
के बीच, जो खण्डहर दबे हैं
लोग उनका पता,
.........किसी को नहीं बताएँगे।
नहीं कहेंगे कि लम्बी यात्रा के बाद
पीछे मुड़ने का इशारा
तुमने सिर्फ इस लिए किया था
कि तुम्हारे सेवक, अपनी थकान
तुम्हारे मसनदों पर न डाल दें।
मुझे मालूम है···कि,
रास्ते के जलघरों में
तुमने जिस नली से पानी पिलाया था।
उसका एक छोर···
···तुम्हारे भवनों से जुड़ा था
पर, इसे प्रमाणित करने के लिए
मेरा कोई गवाह नहींहै...
मैं हर बार
गवाह और मुखबिरों के वीच
मुकदमा हार जाता हूँ।
लेकिन, यह मत समझना कि,
मेरी पराजय, तुम्हारी मुकम्मल जीत है।
मुझे अब भी विश्वास है—कि
शरीर के कई टुकड़ों के बावजूद
मेरा मन अपराजित है।

और, इस दिखने वाली पराजय
की पर्तों के नीचे...
जो बन रहा है नया देश
वह एक दिन
यातना की चरम गहराई से
विस्फोट करेगा—
तोड़ देगा प्रतिबन्ध तुम्हारी अर्गलाओं के
तुम देखोगे कि—
तुम्हारे न्याय की भित्तियाँ
ढह जायेंगी...
जब एक और विध्वंसक जन्म लेगा
इन कराहती सर्जनाओं से
तब.........
केवल तब,
तुम्हें मालूम होगा,
कि, पराजित मैं नहीं था
तुम हो!
तुम एक शुरुआत का विरोध करोगे
किन्तु मैं जानता हूँ
इतिहास हर बार
मुखबिर पैदा नहीं करेगा
कभी तो...सत्य को प्रमाणिक करता
कोई गवाह...
...जरूर जन्म लेगा
...जरूर जन्म लेगा !!

●

तीन कविताएँ / सुधा गुप्ता

बरफ़ सी सुफ़ेदी

पनफतियों की तरह उभरती हुई
पनीली आँखें विवशता से देखती हैं
कि खेत की मेड़ पर चलता ननकू
बार-बार फिसलता
धान के रोप पर गिरता है।
अपने कड़ियल जिस्म को
उसने बुबाई में लगा दिया
दर्द से पिराती कमर
मुकदमे के फैसले की चोट से
और पिराने लगती है।
कैसे गंजई का एक पूरा खेत
बीच में से दरक गया
और वह अपने सीने पर
लगातार हवा की बजती सीटियाँ झेलता रहा।
आँतरे-पाँतरे जब भी
उसके चौतरे पर गाँव-सरपंच बैठ
उसी के तम्बाकू की चिलम फूँकता
और डाँट-डपट कर
पूरा कोयला भरकर उठता
तो वह सरपत की तरह
काँप-काँप जाता
सब कुछ छोड़
साले की गर्दन पकड़ने को जी चाहता
लेकिन वह सघन चुप्पी लगा
मुट्ठी बाँधे या तो
लम्बे ताड़ को देखता
या खेत किनारे नदी की क्षीण
मरणासन्न बहती धारा को।

कान, अँगुलियाँ, आँख, हाथ, पैर कहीं भी कुछ
उसे लगता अपनी जगह नहीं है
सब तरफ़ बरफ़ सी सुफ़ेदी जम गयी है
जड़ हो गए हैं।
भैरों जी के सामने माथा टेक
सिन्दूर और मालीपन्ना लगाकर
गर्दन झटकता वह
चुप-चुप गर्द से भरी सड़क पर
अन्धेरे में खो जाता।

खलिश आँखों में ही नहीं बातों में भी

जब भी उन्होंने
दार्शनिक मुद्रा अख्तियार की
तुमने उसकी चिंदी-चिंदी कर
सबके सामने उजागर कर दिया
और बेबाकी पर उतर आए
उनका असलियत से घायल चेहरा
और भी भयानक हो उठा
तनाव और गुस्से में भरे हुए वे
उपाय सोचने लगे
तुमसे बदला लेने के
चूँकि तुम्हारे लिए मना था
उनके खिलाफ़ बोलना
चाहे वह संसद हो या आम सड़क
फिर भी वे तुम्हारी चुप्पी से ही
भयभीत रहने लगे
क्योंकि वे जानते थे
तुम्हारी चुप्पी में भी
उतनी ही ताक़त है
जितनी उनके हाथ में आए शासन तन्त्र में।
इसीलिए उन्होंने तुम्हें
पहले चोटी पर पहुँचाया

फिर नीचे की ओर लुढ़का दिया
यह सब कार्य उन्होंने चुपचाप किया
ताकि औरों को कानों-कान खबर भी न लगे।

कितने मन्त्रमुग्ध करने वाले हैं उनके सूत्र
जिसने सम्पूर्ण जनता को
विमोहित कर दिया है
और तुम अपनी चोटों को
सहलाते हुए
यातना के दायरे में
अपने तमाम आवेग को दबाए
किस ताक में खड़े हो।
खलिश केवल आँखी में ही नहीं होती
बातों में भी होती है।
कुछ लोग कान से सुनते हैं
कुछ पेट से
और कुछ जेबों से
तुम किन लोगों की बात करते हो
क्योंकि इनमें से कोई भी
सच्चाई नहीं सुनना चाहता।
एक लम्बी उमर गुजर जाने के बाद भी
यह नहीं जान पाते कि
धुँआँ और घुटन में क्या अन्तर है
सलीब और पीड़ित उम्र को
ढोने का क्या मतलब है :

संयमित स्थितियों को
जहरीली दूषित गैसों से बचाना होगा
हर झूठे मुखौटे को कौशल से
चिथना होगा
चाहे अँगुलियों की पोरें
क्यों न जल जाएँ

पंखों की चमक

हो सकता हैं आज तुम
जिसकी दयानतदार और जमानतदारी का
खुले आम ढिंढोरा पीट रहे हो
कल-परसों वे ही तुम्हें
अपनी बगल से बेदखल कर देंगे।

हो सकता है आज तुम
जिस आवाज पर आलीशान इमारत के
मालिक बन बैठे हो
वही आवाज़ कल एक लम्बी
अन्धेरी सुरंग में ले जाकर छोड़ दे।

कई चेहरे मोम के होते हैं
जो धूप का सेंक लगते ही
पिघलने लगते हैं
कुछ चेहरे कठोर पत्थर से तराशे हुए
जहाँ आँधी तूफान वर्षा गर्मी
कोई असर नहीं करती।

हो सकता है जिन लोगों ने तुम्हें
देखना और बोलना सिखाया
एक दिन वे ही तुम्हारी
आँखों पर पट्टी बाँध कर
तुम्हें गूँगा बना देंगे

यहाँ कोई फरक नहीं पड़ता
किसका आकाश कितना नजदीक है
फरक पड़ता है तो केवल यही
कि किसने अपने पंखों पर
रंग रोगन लगाकर
कितना चमकाया है
और कितनी दूर उड़ने में कामयाब
हुआ है।

९, अरविन्द नगर
सुन्दर वास,
उदयपुर

आंतमकथ्य

कविता मेरे लिए हथियार है। हर हथियार एक रचाव है और किसी रचाव के लिये है। यानी हथियार मान लेने से कविता की रचनार्धमिता में कोई फर्क नहीं पड़ता है।

हथियार की सार्थकता संघर्ष है। संघर्ष का एक पक्ष है बचाव और दूसरा पक्ष है प्रहार। पहले की अपेक्षा दूसरा पक्ष इतना अधिक महत्वपूर्ण है कि नई रण-नीति में प्रहार को ही बचाव का पर्याय माना जाने लगा है (offence is best defence) यानी आक्रमकता कविता के रचाव की एक आन्तरिक विशेषता है।

प्रश्न उठता है बचाव किसका ? शरीर का ? शरीर से भी अधिक महत्व आदमी के विचारों का है। वैचारिक बचाव के लिए शरीर छोड़ते देखा गया है लेकिन शारीरिक बचाव के लिए विचार तोड़े अथवा छोड़े नहीं जाते हैं। यदि कोई ऐसा करता है तो हिकारत से देखा जाता है।

वैचारिक बचाव ही संघर्ष का असली मुद्दा है और कविता इसके लिए वाजिब किलेबंदी है। कविता में बैठा हुआ विचार कालजयी होता है और विचार में रची गई कविता कारगर होती है।

श्याम नारायण

तीन कविताएँ / श्याम नारायण

खूँखार मेमना

अंधे
आँख के लिए
रोते हैं। लेकिन वे
ज़्यादा भाग्यवान होते हैं
क्योंकि उन्हें
दिखाई नहीं पड़ता वह
महिमामंडित षड्यंत्र
जो एक तिलस्मी तंत्र के नाम पर
प्रजा को
पेर रहा है और
उसके पेट पर पांव जमा कर

समाजवाद की
माला फेर रहा है
कितना खूँखार
और खतरनाक है
मेमने की शक्ल वाला
यह दोगला दृश्य
मोची के सूजे की तरह
दिमाग में गड़ता है।
लेकिन देखने पर
मेमना दिखाई पड़ता है

भेद में अभेद

धब्बे
सफेदी ओढ़ लिए हैं
बगुला पंख हो
या सफेद शंख
भेद क्या है
लोग नहीं पूछते
शहादत पर टँगे
लहू लुहान
अपने ही पहरेदारों के
बूटों तले
क्षत-विक्षत हिन्दुस्तान
और उसके घावों में
फर्राटे से प्रजातंत्र उड़ाने वालों में
भेद क्या है
लोग नहीं पूछते
सिर्फ देखते हैं
सफेद क्या है

पहचान

खूँटे से बँधे
भूखे भेंड़ों और बकरियों पर

कसाई ने
रोटी के टुकड़े फेंके
और उनकी छटपटाहट का शोर
कमजोर होकर
कृतज्ञता में डूब गया।

तपस्वी गधे ने
भाव विभोर होकर कहा
दया के सागर
प्रभों तुम
कसाई में भी
उजागर हो
पापी हैं लोग
जो तुम्हें
पहचान नहीं पाते

दुर्भाग्यवश मैं
भेड़ बकरी अथवा गधा
नहीं हूँ
और इस पाप की वजह से
भगवाननुमा कसाई द्वारा
तनखाह का जो टुकड़ा
मेरी जेब में
फेंका जाता है
उसमें मुझे
दया के बजाय एक बेहया
चेहरा नज़र आता है।
और मैं
कृतज्ञता में झुकने की जगह
अपने नाखून सहजने लगता हूँ।

आत्मकथ्य : ताड़ी क्षेत्र : सार्थकता की सीमा

कथ्य शिल्प को कैसे बदलता है 'ताड़ीक्षेत्र' के चार खण्डों की कविताएँ लिखने के क्रम में मुझे इसका पता लग गया है। इसी क्रम में वह भी मालूम हुए बिना नहीं रह सका है कि पीढ़ियों में लिखो जाने वालो कविता, परम्परा का निर्वाह रचनाकार से खुद-ब-खुद करवा लेती है और अनुभूति के विस्तार को उस सीमा तक पहुँचा कर ही दम लेती है जहाँ से अगली पीढ़ी के संभावना सूत्रों की शुरुआत होती है।

भाषा से विचार और विचार से भाषा में निरन्तर अपनी ओर बदलती हुई कविता अपने पाठकों की तलाश खुद करती है। तलाश के इसी सिलसिले में वह जनता की विचार यात्रा में रचनाकार की भागीदारी को भी रेखांकित करती रहती है।

कविता द्वारा किया गया यह रेखांकन मेरे समकालीन लेखकों को किस भूमिका से जोड़ता है—मुझे नहीं मालूम, लेकिन वह मेरी कविता के लिए एक पाठक जगत का निर्माण अवश्य कर रहा है, साथ ही मुझे इस बात के लिए आश्वस्त कर रहा है कि कविता के शोर में शामिल तमाम आवाजें जब कमज़ोर पड़ जायेंगी तब मेरी आवाज़ की ताकत और असर को समझते हुए आने वाले वक्तों का पाठक मेरी निश्चित भूमिका के निर्धारण क्रम में लगातार महसूस करेगा कि वह एक ऐसे वक्त में कविता लिखते रहने में विश्वास करता रहा है जब इसको पीढ़ी के अधिकांश कवियों ने कविता की केन्द्रीयता को नष्ट करते हुए उसकी भूमिका को न केवल संदिग्ध बना दिया था अपितु जाने-अनजाने स्वयं को उस साज़िश में शरीक भी कर लिया था जो जनता से कविता को काटने के लिए कई-कई स्तरों पर की जा रहो थी और कविता लिखने वाले ज्यादातर लोग अपनी व्यक्तिगत कुण्ठा को जनता की कुण्ठा के रूप से पेश कर रहे थे। जब कि जनता उनकी हताशा वाली मनःस्थिति के विपरित आस्थापूर्ण तरीके से बदलाव की उस ज़मीन पर पहुँचने की तैयारी कर रही थी जहाँ मेरा और मेरे जैसे कुछ कवियों का काव्य जगत अवस्थित है।

शलभ श्रीराम सिंह
एस-४/२१
बेलूर हाउसिंह स्टेट (नीस्को)
साबुईपारा (बाली)
हवड़ा (प० बंगाल)

ताड़ीक्षेत्र की चार कविताएँ / शलभ श्रीराम सिंह

पूर्वाभास

आम के नीचे खड़ी है बैलगाड़ी
और लभनी में उफनती हुई ताड़ी
याद में है फटी साड़ी उसी बिटिया की जिसे
दुलहिन बनाकर विदा करना है चौथ को, छट्ठ को
या सप्तमी को···
बराती पाँच हों या दस खिलाना है
ठसाठस···
भले आ जाय ग़श सहकर
कमर पर लात महँगायी लगाये जब
कि अब हर चीज की कीमत चढ़ी है···
घटी है इस तरह से कुछ गरीबी
हँसी गायब हुई है हर किसी की
रुलाई आ नहीं सकती कि रोने की नहीं है
बात कोई···गरीबी हट रही है···गरीबी···
हट···रही···है···
कि ढलने लग गई है उधर
ताड़ी निगलने लग गयी है बैल
गाड़ी···कि जलने लग गई है कहीं
साड़ी जहन में···जिन्दगी में···

तोताराम से बातचीत

: कहो तोता राम घर की क्या खबर है ?
—घर नहीं है आजकल केवल शहर है
गाँव की गर्दन उसी की पूँछ में जकड़ी हुई है !
: तो ?
—सेठानी की कलाई पर घड़ी है !
: तुम्हारी आँख में सूई गड़ी है ?
—नहीं जी आँख से क्यों, आँत में कहिये !
: सुनो तोताराम !
अब यह नगर बेगाना हुआ

जहाँ अपने लोग हों उस जगह पर रहिये !
—उस जगह पर नये धन्नासेठ रहते हैं
बात के बदले सदा 'आदेस' कहते हैं
बूकते हैं 'मंतिरी' तक पहुँच की बातें···
: तब ?
—कुछ नहीं जी, जियेंगे हम, बस जियेंगे···
आइये, चलिये, वहाँ, उस पेड़ के नीचे, वहीं
ताड़ी पियेंगे !

सुमेरिया

एक आदमी : सुमेरिया आ रही है !
दूसरा आदमी : सुमेरिया आ रही है ?
तीसरा आदमी : इसी कच्ची उम्र में हर-हर क़दम पर
चल रही है तो कई बल खा रही है !
चौथा आदमी : क्या हुआ इसको ?
य' क्यों आकाश में झाड़ी लगी है ?
पाँचवाँ आदमी : कुछ नहीं ताड़ी···अजी ताड़ी ··इसे ताड़ी लगी है !
अव्यक्त प्रश्न : (अ) य' ताड़ी गाँव को लग जाय तो क्या हो ?
(ब) धमकते पाँव को लग जाय तो क्या हो ?
(स) धचकती नाव को लग जाय तो क्या हो ?
(द) समूचे देश को लग जाय तो··· ?
सूत्र संवाद : तभी कुछ लोग गाने लग गये थे
परस्पर ही सुनाने लग गये थे
समवेत चौपाई : 'दुरघटना से बचई जो गाड़ी !
पिवहु शिवाम्बु तजहु मद-ताड़ी ॥
टिप्पणी : उठा कर हाथ में लभनी—
सुमेरिया से किसी ने कहा—आ ! ले !!
नचाकर आँख, होंठों पर फिरा कर जीभ
बोली वह कि 'हत् स्सा ले···'
प्रथम निष्कर्ष : किसी के हाथ की पीती नहीं है !
अंतिम निष्कर्ष : दया की ज़िन्दगी जीती नहीं है !!

सवाल लम्बू मस्तान से

सुनो लम्बू !
यह सुलेमनवा हरामी है
पिलाता है मगर पैसे नहीं लेता
व' कहता है कि 'आपन लोग हो तुम'
य' आपन लोग बन कर कमलवा भी सुड़ुक आता है
ढकाढक···ढकाढक···ढकाढक···

लम्बुआ !
तू ने बहू को भला पीटा क्यों ?
व' तेरी माँ मिली थी कह रही थी···क···ल···
'तु मा री बा त सु न ता है
कि समझा दो उसे बेटा···
बिचारी कहाँ जायेगी ?···'
उसे घर से निकाले दे रहा है तू ?
बता अब कौन-सी इन्नर-परी पर जान देगा ?

सुनो बच्चू ! अब अगर तुम उसे पीटोगे
पिटोगे तुम, पिटेगा वह तुम्हारा बाप
जिसकी उम्र तुम से बहुत कम है और
खुद को समझ कर नेता,
हमेशा 'पाट्टी' की बात करता है,
युनियन से प्राप्त करके रक़म चन्दे की
भाग जाता है हमेशा गाँव, अक्सर
चिट्ठियाँ या तार नकली मँगा करके···
मजूरों की कमाई के रुपइयों से
सुना है आज कल वह खेत भी लेने लगा है
खूब करता है तुम्हारी पार्टी का काम वह भी
ठीक वैसे ही कि जैसे कल तलक 'काङरेस' करता था—

[श्री हृषीकेश की प्रस्तुत कविता 'आपातकाल' में कानपुर की वहु गोष्ठियों में पढ़ी गई थी। कुछ लोगों ने कहा था—यह आपातकाल के पक्ष में खड़ी है। वाकी लोगों ने कहा था—यह आपातकाल के विपक्ष में है ! कानपुर के बाहर के प्रबुद्ध पाठक अपनी-अपनी राय कायम करें ताकि इस विवादास्पद कविता का पैर एक जगह टिक सके !—सम्पादक]

आपात / हृषीकेश

आपने हमसे कहा
हमने आप से कहा
आपने आपसे कहा
आपने आप-आप से कहा
आप-आपने उनसे कहा
उनने उन सबसे कहा
यह क्या हो रहा है !
तब
आपने
हमने
उनने
सबने, सबसे
सबके बीच
अपने आप से कहा
जो हो रहा है सब ठीक हो रहा है।

२–ए/१७ ओ० टी० कम्पाउण्ड
नेपिअर रोड, कानपुर–४

आत्मकथ्य

दूसरों पर लिखने और उनका विश्लेषण करने में लगे रहने के कारण अपने बारे में लिखने का ध्यान रहा ही नहीं । यह है भी थोड़ा मुश्किल काम, चोर दरवाजा बनाने जैसा । वैसे भी, इन कविताओं को पढ़ने-समझने के लिए मेरे वक्तव्य की आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिए, पड़ती है तो पाठक-समीक्षक क्या करेंगे ।

अलखनारायण
१४/१, शम्भु चटर्जी स्ट्रीट,
कलकत्ता–७

तीन कविताएँ / अलखनारायण

कृपा-मुक्ति

भगवन ! बहुत दिनों तक आपके चरणों के नीचे
पालतू कुत्ते की तरह पड़ा रहा
आपके अलौकिक वाक्य-युक्त निर्णय की प्रतीक्षा में
जिस प्रकार नौकर-चाकर पड़े रहते हैं, पड़ा रहा
याकि जैसा आपके चमचे कहते हैं अड़ियल टट्टू की तरह अड़ा रहा
तब भी आपकी मधुर वाणी न सुन सका
एक दिन भी आपने पीठ थपथपा कर नहीं कहा—'गुड ब्याय ।'
विश्वास करें प्रभू इन दिनों स्वप्न में
सुनाई पड़ता है आपका कॉलिंग बेल, मैं सो नहीं पाता
मेरे कपड़े उतार कर देखिए न भगवन
पीठ पर किस कदर दगे हैं आपके जूते और बेंतों के निशान
शरीर के हर अंग पर ग़ौर कीजिए
झूल रहे हैं आपके आश्वासनों के पेण्डुलम
प्रभु ! आखिर इस तरह कितने दिन चलायेंगे
जलायेंगे कितने दिन और तिल-तिल
आखिर मेरा अपराध क्या है ?
जी ! क्या कहा ?
हाँ ठीक ! बिल्कुल ठीक !!
मैंने ऐसा कहा है कि आप खून करके भी निर्दोष बने रहते हैं और
अपनी बहन के साथ बलातकार का विरोध करने वाले को

गुनाहगार करार देते हैं
जी ! ओ !! अच्छा !!!
मैं व्यावहारिक, अक्लमंद और तरक्की पसन्द नहीं हूँ
न रहूँ, पर इस संत्रास, व्यभिचार, अभाव और दुर्भिक्ष को
स्वाधीनता मानना मेरे वश के बाहर है
अन्दर जो कुछ है भगवन यदि उन्हें निकाल दूँ तो
आपकी नानी मर जायगी और लगेंगे करने बाप-बाप
आप सँभालिए अपने हिजड़ों यानी चमचों को
समझौते की शर्तें उन्हें मुबारक हों

मैं अपने प्रश्न को छोड़ नहीं सकता, करता हूँ पुर्नविचार की माँग
देखते ही देखते भगवान ! बिटिया उनतीस की हो गयी
बचपन में इसके-उनके गोद में खेली, सो सभी की खेलतीं हैं
किन्तु सोलह के बाद भी उसे आप दूसरों के पास भेजते रहे हैं
यह बात एकदम बुरी है और मैं करता हूँ विरोध
निरोध शरीर के व्याकरण को नहीं बदल सकता प्रभु
मैं उसके यौवन के रंग से ही उसका चित्र बनाता हूँ
दिखाता हूँ उन भारतीयों को
जो बेटी के यौवन की ओर ताकना भी समझते हैं पाप
जानते हैं भगवान, मेरे यह पूछने पर कि
यह लड़की कैसी है, क्या अब भी जिस-तिस के हाथ खेल सकती है ?
कोई उत्तर न देकर वे करते हैं प्रश्न
'क्या अब तक इसका घर नहीं बसा है, इसका बाप मुसीबतों में फँसा है ?
तभी एक ने चाकू तानते हुए कहा
जिसके चेहरे पर शिकन नहीं रोष और घिन था
उसके रोष के सम्मुख मेरा रोष दब गया आपकी अन्दरूनी
झंझटों की चर्चा करते ही, वह तावे की तरह तप गया
सच मानिए सर, वह कह रहा था 'बिटिया सबकी है
हम भारतीय हैं और सदियों से ऐसा मानते हैं'
जानते हैं प्रभु। वह कह रहा था एक बहुत खतरनाक बात कि अब
'आप अपना भविष्य अधिक दिन न सँभाल पायेंगे
अपने नपुँसक पुत्रों और चमचों के साथ रसातल चले जायेंगे,
बिटिया की दुर्दशा देखकर सबका दिल दहल गया

उनके मन से वहम और दहशत उठ गया है
आपका नापाक इरादा उन्हें खल गया है

सर ! उनके हौसले का विस्तार अब आप ही मापें और मुझे
मुक्त करें। अपने को सिझा-गलाकर
आपके सामने परोस दूँ यह मुझसे नहीं होगा
मैं अपनी नग्नता को ढकने के लिए रोशनी
पहनने की स्थिति में नहीं हूँ, आपको पहनाना आता है
पहनिए सर, मैं जा रहा हूँ, गुड बॉय।

शताब्दी की स्वरलिपि

हे मेरी जन्मभूमि
जन्म के बाद अंगीकार करके मुझे
स्नेह-पराग से सिंचित कर तुमने
छोड़ दिया विभिन्न कार्यों के सम्पादनार्थं
देश, समाज, घर परिवार के संग्राम-सिंधु के तट पर तमिस्त्र
उन्हीं के निमित्त, आज सचमुच मेरा जीवन है अनन्य

आदिगन्त व्याप्त तुम्हारा स्नेह और प्रेम
मेरा विश्वास था तुम्हारे प्रभाव से, प्रयास से
अनायास सहर बदल जायगा और मैं
मुट्ठी भर-भर कर लुटाऊँगा खुशियों का अम्बार
पर सब बेकार
कालक्रम में जीवन के समस्त किनारों से टकरा कर
अनगिन थपेड़े खाकर
हो गया जब्र मर्माहत और चूर उसी दिन
हे मेरी जन्म भूमि मैंने समझ लिया कि
शस्य प्रसविनी तुम्हारी मृत्तिका सह रही है वंचना की जंगली यंत्रणा
श्मशान के मालिक पिशाच की चाबुक के नीचे
जिनके श्रम के फल से सृष्टि करता यंत्र और घर्घर
उन्हीं का शोषण करता हैं धनपति बर्बर
स्वर्गादपि गरीयसी की महिमा से वंचित कर
नरक की स्रोत धारा में तुम्हें फेंक दिया गया है

हे मेरी जन्मभूमि
इतने दिनों से नरक में बन्दी बनी हो तुम
अपने प्राण की समस्त गरिमा खोकर
व्यर्थ जले-कट वृक्ष की तरह खड़ो कर रही हो पश्चाताप
जैसे मुझे देने के लिए कुछ है ही नहीं तुम्हारे पास
हे मेरी जन्मभूमि
इन्हीं क्षणों में मुझे लगता है कि कुछ नहीं दे पाने के विषाद ने ही
तुम्हें मंगल पांडे, भगतसिंह, खुदीराम, बाघायतीन को
जनने की प्रेरणा दी थी

यंत्रणा से लहुलुहान है तुम्हारा सर्वस्व
इसी से तुम्हारी आँखें जलती और बुझती हैं
और छटपटाती हुई तुम अपने बिलबिलाते पुत्रों की
मुक्तिकामना करतो हुई हो जाती हो बेहोश
और विद्युत की उत्तेजना से दौड़ते हुए घोड़े की तरह
नरक से भागता हुआ
मेघमंद्र स्वर में चिघ्घाड़ता है तुम्हारा एक पुत्र, बंधन काट कर
तुम्हारे स्नेहमय नीड़ में प्रज्वलित करूँगा पारिजात किरणें
हे मेरी जन्मभूमि होश मत खोओ
थोड़ी दूर आगे बढ़कर मैंने देखा कि
नरक के बाहुपाश, राहुग्रास से मुक्त करने के लिए
जो रक्ताक्षरों में अपने नाम लिख रहें हैं
रस्सों से बाँध कर नरक के प्रहरी उन पर कर रहे हैं आघात
उल्लुओं के इशारे पर
तथापि काल के क्रूर-कुटिल प्रवाह में
दुर्वासा हँस रहे हैं तुम्हारी आँखों की पुतलियों में
दुर्गम-दुस्तर-मरू-गिरी-पारावार
कर रहा है पार अन्नहारा जो है अनाहार
हे मेरी जन्मभूमि

आज तुम्हारे शहर, ग्राम, नगर और जंगलों में
उठ रहा है हंग्राम-संग्राम
अंजाम
के बारे में तुम्हारे पुत्र हैं निश्चित अनुदग्र

क्योंकि शताब्दी की स्वरलिपि नाच रही है झंझावात की तरंग में
तुम्हारे अंग-प्रत्यंग में
स्वर्गादपिगरीयसी की महिमा से मंडित होकर
करोगी पीड़ित पुत्रों को पुरस्कृत अलंकृत
हे मेरी जन्मभूमि दिग्भ्रमित पुत्रों को करो तिरस्कृत झंकृत
भरो हुँकार
नमस्तस्ये, नमस्तस्ये मातृभूमि तुम्हें शतबार।

मुर्दा फरोश

नदी के उस पार
एक औरत बच्चे बेचती है, सब कुछ बेच कर
अब सेंकती है हाथ, धुनती माथ
बीच में रुक कर करती है याचना
'महाप्रभु मुसीबतों से बचाले मुझको'

नदी के इस पार
एक मर्द मुर्दा बेचता है, फूँकता है उनमें साँस
बेखबर हैं आसपास के लोग
इसका है उसे निश्चित विश्वास।
फूँकीं गयी साँस वाले मुर्दे जब बोलते हैं
खोलते हैं आँखें तो उन्हें लगता है विचित्र
अद्भुत
डूबा हुआ अणु-अणु अस्तित्व का
एक मोहक जादुई नशा में और डूबता-सा एक स्वर
'संभलो शाबास'
संभलते ही डगमगाते हैं और लड़खड़ा कर बैठ जाते हैं
दूर-दूर तक घना अंधकार
डूबा हुआ जिसमें जैसे सब कुछ, वे नहीं कहीं भी
किसी भी कोने में नहीं कोई रोशनी, किंचित प्रकाश
और वह, मुर्दों में जान फूँकने वाला है जो जादूगर
अट्टहास करता
तालियाँ पीटता और झूमता है, घूमता है

अकस्मात् बड़ी ही नाटकीय मुद्रा में, नचाता हुआ
लकड़ी या हड्डी हाथ की
बताता हुआ बहुत कुछ, देता हुआ उपदेश
जैसे मुर्दों को हँसाता हुआ वस्तुतः उन्हें जाल में फँसाता हुआ
दिल और दृष्टि की चैन की भीख की :
हो न जाय हृदय छोटा, हों गरीब बेवश तब भी
करें विश्वास, प्रार्थनाएँ दुःख से बचने की कामनाएँ
उस बच्चे बेचने वाली औरत की तरह।
जैसे मुर्दों की आँखों की धुन्ध छँटती है
फटती हैं स्याह परतें शताब्दियों की गर्तें
पड़ती हुई याद उन्हें अपनी मृत्यु की
उन्हें लगता है वे मरे नहीं डरे थे
या उनके पहले के लोग सिरफिरे थे :
जिन्होंने दिया ही नहीं था ध्यान
मानव-पिण्डों के आसपास,फैली हुई लम्बी-चौड़ी घाटियाँ
हैं कितने चट्टान
(जैसे अपने में हमारा संविधान)
युगों से अड़े हुए, पड़े हुए हम सब पर
स्तब्ध सत्य है खड़ा अनुत्तर

इसी तरह रहता चला किया है
जैसे इस संक्रमण काल में
सच ने झूठ का साथ कर लिया है।

उनमें से एक ने कहा : 'तब, अब वस्तु को उसके नाम से ही पुकारो
स्थिति यथावत् स्वीकारो यथार्थतः
और बच्चे बेचने वाली औरतों को
मुसीबतों से उबारो।'
अकस्मात्
मुर्दों और हड्डियों वाला जादूगर
अवतरित होता और करता है शोर
'अकल्पनीय, अविश्वसनीय, ऐसा सोचा भी नहीं था
धर्म रक्षकों ! विद्रोही हैं, सालों को मारो'
आवाज छूटते ही जान छूटती है

नदी के उस पार से बेतहाशा भागता एक आदमी
सहसा ठिठक कर कहता है :
'ये लम्बी-चौड़ी घाटियाँ हैं कितने चट्टान
युगों से अड़े हुए, पड़े हुए सड़े को गलाते
इस सब पर, स्तब्ध सत्य है खड़ा अनुत्तर।'
पर भाइयो।
उसके पीछे भागते हुए कई लोगों ने एक साथ ही कहा
'कब तक, आखिर कब तक ?'
नदी के इस पार से एक पिशाच-शक्ल चिल्लाया:
'सच-झूठ का उत्तर खोजने निकला था जो
उसे जेल के भीतर मार दिया गया बहरों
सुना नहीं तुमने
जब कि खबर पहुँची है सब तक ?'

आत्मकथ्य

इस बहस में पड़े बिना कि कविता कैसी होनी चाहिए, या कि समाज को किस आवश्यकता से उसे पूरा करना चाहिए, मैं उसे (कविता को) अपने आप चलते रहने वाले एक निरंतर साक्षात्कार के रूप में लेता हूँ। इस मायनी में, वह निकलकर बाहर न भी आए···लिखी न भी जाए तो भी क्या हुआ ? रची तो वह जा ही रही होती है हर क्षण, और उसका यह रचा जाना ही शायद मुझे जीने की ऊर्जा देता चलता है, वरना ऐसा क्यों होता कि अंदर ही अंदर घुमड़ रही तमाम तकलीफों और उन तकलीफों के हल न खोज पाने की वजह से एक और तकलीफ—ये सब, तब एकाएक छंट जाती हैं जब धीरे-धीरे एक कविता उगने लगती है।

लफ़्फ़ाजी न समझें इसे। कहना इतना भर है कि कविता मेरे लिए अपनी एक जरूरत है; वह उन तमाम फैशनेबल कसौटियों पर—जो इधर कविता की परख के लिए अयां कर दी गई है—खरी उतरती है या नहीं—इसका ख्याल तो जरूर आता है लेकिन उन कसौटियो में फिट करने के लिए मैं लिखूं—यह करने को जी नहीं करता।

कहा न : लिखता तब हूँ जब भीतर कुछ सवाल होते हैं और उनके उत्तर आसानी से नहीं मिलते।

ओमप्रकाश मेहरा
डी—३, ७४ बंगले
भोपाल—प्र० प्र०

तीन कविताएँ / ओमप्रकाश मेहरा

छाप

अब 'छाप' देखकर बात होने लगी है
भाई साहब। चीजें तो क्या
आदमी की पहचान भी अब छाप के भरोसे है।
आप सरासर अहमक हैं कि अब भी
अपनी परख की तराजू में
पुराने बाँटों का
इस्तेमाल करते हैं। ढूँढ़ते है
आदमी में दयानतदारी,
चरित्र और संयम। इस सब

झमेले में पड़ने की
भला अब जरूरत ही क्या है ?
देखिए आपको याद होगा
पहिले आप जब घी
खरीदते थे तो बानगी के
बतौर थोड़ा सा लेकर
उँगलियों के पीछे मलते
थे और सूंघते थे
असली की पहिचान के लिए
मगर अब आप यह
सब नहीं करते ··सीधा
ट्रेडमार्क
देखते हैं और आँखें मूँद कर
उठा लाते हैं घी का टिन।
ठीक उसी तरह अब आपको
सही आदमी की तलाश के
लिए तमाम जाँच-पड़ताल
और पूँछताछ के जंजाल में
पड़ना ही नहीं चाहिए। सीधे
ही देख लेना चाहिए कि वह
कौन छाप है और क्या
कोई मार्का है उसकी पीठ पर!
बस अपनी पसन्द की छाप चुनिए
और आदमी की पहिचान करिए।

आज़ादी

आप सब लोगों ने कहा था
और मैंने मान लिया था
कि मेरी नींद खुल गई है।
आप सब लोगों ने कहा था
और मैं आश्वस्त हो गया था
कि मेरे पास बहुत बड़ी ताकत है!
कि मैं पूरे देश को हिला सकता हूँ

सत्ता को पछाड़ सकता हूँ
और भी न जाने क्या क्या
कहा था आप लोगों ने
और मैंने सब कुछ सच माना था।

अब आप लोग चले गए हैं।
जिस मंच से वे सब बातें
मुझ तक आपने पहुँचाई थीं
वह आपके साथियों ने
उखाड़ कर 'अहलूवालिया
शामियाने वाले' को वापिस
कर दिया है और जिन
लाउड स्पीकरों ने आपकी
बात मुझ तक पहुँचाई थी
वे 'तनेजा साउंड स्टोर'
के एक कोने में वापिस
पहुँच गए हैं।

बिजली के लट्टू 'प्रकाश
इलेक्ट्रिक हाउस' में जमा
हो चुके हैं और फूल मालाएँ
पहिले आपके गले में पड़ीं
फिर जनता में लुटा दी गईं
और अब तक उनके नामों
निशान तक मिट चुके हैं।
मेरे आसपास
बहुत बड़ी भीड़
खुश होकर नाच रही है, जिसके
साथ में भी कुछ देर तक खुश
होकर नाचा। लेकिन उस
भीड़ में अभी अभी लाला धनपति
का चेहरा भी मैंने देखा
और ठाकुर जालिमसिंह का भी

शायद वे मुझको देख रहे थे
लाल लाल आँखों से।
देख तो रे, साला कनछेदी
कैसा नाच रहा है
फिरकनिया दे दे कर ?
पता नहीं है इसे 'सार' में
गाएँ खूंटे से बंधी हुई होंगी
उनको जंगल ले जाना है!
मस्ती तो देखो, उधार की फिकर नहीं
नाच रहा है हम लोगों के साथ,
करने चला है बराबरी ?

आप लोगों को गए हुए तो
हो गए बहुत दिन; धुँधलीं
सी बातें ही रह गईं याद,
जाने वे बातें सच्ची थीं या
झूठी ? 'डर' से सबको
मुक्ति मिलेगी, ऐसा ही कुछ बार-बार
कहा था आपने।
सचमुच वे बातें सुनने में
बड़ी भली थीं लेकिन
फिलहाल यहाँ
मुझको कुछ आँखें
घूर रही हैं लाल-लाल।
चलूँ यहाँ से—
ढोरों, को जंगल ले जाना है।

जलसा

रंग बिरंगी झंडियों के
ध्वजकेतु फहराकर—
हमने एक़ किला जीत लिया। और दूसरे
पर बड़े बड़े वादों की सील चस्पा कर,

घोषणा कर दी कि वह भी हमारा है।
बातों के पुलों को हमने रिश्तों की जगह खड़ा
कर दिया और घोषणा पत्रों को,
तमाम तकलीफों के लिए मरहम
की तरह इस्तेमाल करते हुए
अपने अच्छे इरादों की तारीफ़
में तालियाँ पिटवा लीं।

अब जलसा तो खत्म हुआ और
जयजयकार के हार पहिन कर
हम खुश खुश चले आए हैं।
वहाँ पीछे, उम्मीदों की गोद में,
नुची हुई झंडियाँ हैं और फटे हुए पोस्टर
और उनके इर्दगिर्द, सिमटे हुए तमाम,
चकाचौंध से भौंचक कुछ साए हैं।

"विगत तीन-चार वर्षों से लेखन-क्षेत्र में हूँ। म० प्र० के सभी समाचार पत्रों में कहानियाँ छपीं। संचेतना, आईना के जनवादी कवितांक, कादम्बिनी, सतत, पृष्ठभूमि (लखनऊ) विश्वकेत (रायबरेली) में कविताएँ प्रकाशित।

अंजना शर्मा
सी० २ बी०/२७ सी०
जनकपुरी, नयी दिल्ली—११००५८

दो छोटी कविताएँ / अंजना शर्मा

१

तुम्हारे रास्ते की पगडंडी में
जितना अंधियारा है
उतना ही मेरे मन में प्रकाश
तुम फिर भी
चाँद सितारे समेटे हो
मैं—
तब भी खाली खाली······
बोलो !
ये वरदान
तुमने कहाँ से पाया !

२

यहाँ चारों ओर
आग लगी है
और तुम !
दूर खड़े तमाशा देखते हो
जानती हूँ !
आग तुमने ही लगायी है
फिर भी
विश्वास क्यों नहीं होता
कि तुम······एक तमाशायी हो

परिशिष्ट

एक जंग और / ब्रह्मदेव 'मधुर'

वे लोग कितने खुश हैं,
जो ज्यूक बॉक्स में सिक्के डाल कर
पॉप संगीत सुनने में व्यस्त हैं।
और बाहर—
कुछ लोग लहू के गीत गुनगुना रहे हैं।
दोस्तो !
जीवन के अँधेरे में
खून से लिथड़ा हुआ सूरज निकल आया है
जिसे कोई भी दिशा अस्त नहीं कर सकती।

यह सच है कि खाली बन्दूकें जंग नहीं जीत सकतीं
लेकिन भूखा आदमी इन्क़िलाब ला सकता है।
इसलिए तुम अपनी बन्दूकें फिर से भर लो
उन आदमियों के खिलाफ़
जो इन्क़िलाब लाना चाहते हैं।

वे तुम्हारी गोलियों से छलनी होने के बावजूद
मुर्दा ही सही मगर लड़ रहे हैं।
तुम इसे मुर्दों की हठधर्मी कह सकते हो।
यह भी एक प्रकार की शव-साधना है!

वैसे तुम्हारे हाथों में मरने वालों की सूची है
जिसकी संख्या तुम रोज बढ़ा रहे हो।
लेकिन इससे फ़र्क क्या पड़ता है—
कि तुम्हारे हाथ में बन्दूकें हैं
और वे निहत्थे।
लड़ाई तो लड़ाई है !

उन्होंने अपने कटे हुए हाथों को ही बन्दूक बना लिया है।

इस जंग के बाद निश्चित ही वे
अपनी बन्दूकों को हल में तब्दील कर लेंगे

और गोलियों को बीज में !
व्यक्ति जब खुद हथियार बन जाता है दोस्त !
तो उसे किसी भी हथियार से जीतना मुश्किल हो जाता है।
क्योंकि कोई हथियार व्यक्ति नहीं बन सकता।
इसलिये तुम
अपनी बन्दूकें भर लो और
अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति अंधेरे से करते रहो
दागते रहो गोलियाँ!
क्योंकि गोलियाँ भूखी पीढ़ी की खूराक हैं
वे उन्हें निगलती भी हैं और तुम्हें मारती भी हैं !
इतिहास से करो साक्षात्कार !
दोस्त !
तब तक जब तक तुम्हारी गोलियाँ तुम्हारे ही
सीने में उतरने न लग जायें।

वी १२/१०५, गौरीगंज, वाराणसी

सुमति अय्यर

शिक्षा : एम० ए० (हिंदी) पी० एच-डी०
उम्र : २४ वर्ष
प्रकाशित : मैं तुम और जंगल (कविता संकलन)
इसलिए नहीं (कहानी संग्रह) प्रकाशनाधीन
हिन्दी के ललित निबंध (प्रकाशनाधीन)
प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में, कहानी, कविताएँ तथा लेख प्रकाशित
रुचि : लेखन के अतिरिक्त पेंटिंग, भरतनाट्यम्, क्रिकेट तथा नाटक।

तीन कविताएँ / सुमति अय्यर

१

बहुत शोर सुना था क्रांति का
पर अब नहीं सुनते
क्योंकि नये सूर्योदय के पहले
कई नक्षत्र टूट चुके हैं।
वह सफेदपोश
उस क्रांति को दबा चुका है
उसके शब्दों में
वह ग़लत लोगों के द्वारा
ग़लत ढंग से
ग़लत लक्ष्य के लिए
भड़काया गया नाजायज़ विद्रोह था
जिसे भोली भाली जनता के समक्ष
क्रांति के नाम पर
घास की तरह उछाल दिया गया था

अब
समूचा देश मुखबिर बन गया है
और मुखबिरों के देश में
क्रांति कभी पनप नहीं सकती।
उस सफेदपोश ने

जादू की छड़ी फिराकर
पूरे समूह को
मुर्गा बना दिया है
और खुद अपनी हथेली में
एक काला सूरज उगा लिया है
उसे खोलते ही
मुर्गे बाँग देने लगते हैं
और उसकी मुट्ठी बंद होते ही
सारी आवाज़ें शांत हो जाती हैं।
उस सफेद पोश ने
उल्लुओं को अपनी जेब में
क़ैद कर लिया है।
अब, सब सलीके से
चलता है
सुबह, शाम और सुबह
कहीं आवाज़ नहीं, नारे नहीं
लोग नहीं—
बस कतारें हैं
सलामी की मुद्रा में
आगे बढ़ जाने वाली।

२

अक्सर हम बात बेबात पर
तर्कों के ताशमहल गढ़ते हुए
सहसा संवादहीन हो जाते हैं।

तुम्हें लगता है,
तुम्हारे अनछुए अहं को
मेरे हल्के स्पर्श ने
अशांत कर दिया है

और तुम
कम्पोज़ की गोली तक के लिए
अशांत कर दिये गये हो,
बेवजह।
दरअसल मैंने छूना चाहा है।
पता नहीं,
कहाँ, कब, उँगलियाँ फिसल जाती हैं।
सच तो यह है
मेरी उँगलियाँ
मेंहदी से इस कदर रची हैं,
कि अब दस्ताने पहनकर
मैं तुम्हें छूना नहीं चाहती।

२

तुम अक्सर सराहते हो
कभी उजड़े हुए नीम को
कभी लहराते हुए बकायन को
कभी मोरों की चीख़ को
और बिल्ली की गुर्राहट को
ढाल लेते हो, एक खूबसूरत परिभाषा में।
जिस पर तुम
और तुम्हारे मुट्ठी भर दोस्त
बहस कर सकते हैं
रात दर रात।
पर तुम जानते हो
यह मौसम का खेल है
जिसमें हम और तुम
कभी शामिल नहीं हो सकते।
फिर भी तुम भूल जाते हो
कि
रोशनी के नाम पर
आग के सिक्के लुटाने वाले मौसम में

फुटपाथ पर सोयी
काली देहों में
सुरक्षित हैं कई परिभाषायें
जिनकी व्याख्या
तुम नहीं,
तुम्हारे कैमरे का लेन्स करता है।
और किसी विशाल कमरे में
किसी की नंगी पीठ पर
उँगलियाँ टिकाये,
कई प्रशंसक आँखों की भीड़ के साथ
तुम अपना पुरस्कृत चित्र
मुग्ध निहारते हो।
सच कहूँ,
मुझे यकीन है,
थके हुए पैरों के सवाल
सब नहीं तलाश सकते।

●

द्वारा : श्री रमेश बक्षी,
यू-११, टॉप, ग्रीन पार्क,
नयी दिल्ली-११००१६

कुछ प्रश्न / प्रणव भारती

अनजाने लोगों के बीच,
अनदेखी गलियों में,
फंसते, फँसते,
अथाह सागर में,
किस ओर रास्ता खोजे··· ?
प्रश्न चिह्न की आड़ में छुपे हुए···
भटक रहे हैं उद्देश्य से भी अपने।
मन हो गए हैं घायल ··
हर चीज़ के अभाव में—
ढूँढ़ते फिरते हैं, अपने ही कफ़न को लिए
हाथों में—मानो खोजते हैं हम स्वयं को।
क्यों···कि खो गए हैं हम कहीं
बुढ़ापा दम तोड़ता है रोटी के अभाव में
बचपना सिसकता है हास्य के अभाव में
और हम खड़े-खड़े चिड़चिड़ा रहे हैं
असहाय अवस्था पै अपनी।
क्या कभी इन गलियों से निकल पायेंगे हम ?
रोटी मिल सकेगी बुढ़ापे को ?
बचपन स्मित हास्य बिखेर सकेगा ?
और···खोज सकेंगे हम स्वयं को
अपने ही कफ़न के भीतर ?

७, श्रीनाथ सोसाइटी
उस्मानपुरा
अहमदाबाद—१

दो कविताएँ / वासुदेव पोद्दार

संसद से काल-पात्र तक

हिमालय सहित सारे देश को
अपनी मोटी दिवालों में
घेर कर,
इतिहास के इस रक्त-लांछित
काल-पात्र के भीतर [दिल्ली]
खड़ी है यह—संसद !
इंटों पर
पत्थरों पर
चूने और बालू के गारे पर
बड़ी-बड़ी ऊँची कुर्सियों पर
बड़े-बड़े प्रस्तावों पर
भाषणों पर
आश्वासनों पर
दल-बल पर
दलों पर
दल-बदल पर
खड़ी है यह—संसद ।
दलदल पर
आज खड़ा है आदमी ।

जन से
जन-पथ से
जन के पराक्रम से—दूर
इतिहास के इस—
पुराने काल-पात्र के भीतर
खड़ी है यह—संसद ।

नारों से,
बड़े-बड़े मंत्रियों के मृत्यु-दिवसों से,

चौराहों पर गड़े हुए--
इनके मोटे सुगोल पत्थरों से
भर गया है--सारा देश।
इनके बड़े-बड़े नामों पर।
दौड़ रही हैं—
ये गलियाँ, बाजार, सड़कें;
इनके नामों की प्लेटों को
दोनों कंधों पर
लटकाये—
खड़े हैं ये बड़े-बड़े पुल,
सारे देश के आकाश पर
गिर रही है—
इनकी काली राख
चूने और बालू के गारे पर
खड़ी है यह दस-लाख टन की—
संसद।

धरती को पाताल तक खोद कर
खड़े हैं—
बड़े-बड़े महानगर
लोहे की चिमनियों पर
फाइलों पर
फेमिली-प्लैनिंग पर
पुलिस पर
टाइप-राइटरों पर
कानून की पुस्तकों पर
रोगों पर, दवाओं पर
गाँव के आदमी की हड्डियों पर
खड़े हैं—ये नगर, ये महानगर
आदमी के झुके हुए कंधों पर—
खड़ी है—यह संसद

देश के नक्शे पर
रोज बदलती हैं—

अन्धकार की दिशायें।
साथ-साथ बदल जाती है,
कुर्सियों पर झूकती हुई—
'नेम-प्लेट'
आ जाता है
और एक नया नाम,
एक नया प्रेसिडेंट
एक नया प्राइम-मिनिस्टर
एक नयी पार्टी........
फिर
दल बदल कर
खड़ी हो जाती है—यह संसद।
दलदल पर—
आज खड़ा है—आदमी;
इसके नीचे गड़ा है
रक्त से भरा
एक झूठी कथाओं का
काल-पात्र।
नहीं हैं—
इसकी झूठी कथाओं के भीतर
प्रेमचन्द, निराला, रवीन्द्र,
भारती,
यशपाल,
ताराशंकर बन्द्योपाध्याय।
ऊपर तक
उफन कर वह रही है—
रक्त की धारा।
इतिहास के इस—
पुराने काल-पात्र के भीतर
खड़ी है—यह संसद।

राहुल सांकृत्यायन

हम खोजेंगे तुम्हें
आग पर
बर्फ के तूफान पर
जीवन के सम-विषम
आड़े, तिरछे, सारे पथों पर—
हम खोजेंगे तुम्हें—
इतिहास के हज़ारों पृष्ठों पर
भूत में,
हमारे वर्तमान में,
भविष्य के अनन्त
प्रकाशमय पथों पर
खोजेंगे तुम्हें;
तुम !
हमें खोजते हुए
चढ़ गये थे—
दुनियाँ की सबसे ऊँची छत पर,
हेमकूट पर्वत पर;
मनुष्य के
सबसे अधिक पृष्ठों को
पढ़ा था तुमने।

तुम बुद्ध !
तुम मार्क्स !
वैज्ञानिक-भौतिकवाद के
हे ! नये मज्झिम-निकाय,
यह नये-युग का
नया राहुल,
इतिहास की सब से सुदृढ़ चट्टान का
यह चन्द्रगुप्त;

मध्यएशिया के
अचल, अलंध्य भूखण्डों का
यह अजय काल-पुरुष;
वोल्गा से गंगा तक
भटकता,
गाता,
एक कुशिलव, एक यायावर,
विश्व के दर्शन-दिक्-दर्शन का—
नया दिङ्नाग,
धर्मकीर्ति और रत्नकीर्ति के पश्चात्
भारतवर्ष की यह नई
संकीर्तनीय-संक्रान्ति—
सांकृत्यायन।

रोशनी की शहतीर / सुधा गुप्ता

पिछले दस-बारह सालों में लिखी जाने वाली कविता और उसके विभिन्न अन्तर्विरोधी स्तरों व स्वरों को लेकर मन में उधेड़बुन रहा है। कविता के स्वरूप में, उसकी बनावट-कथ्य-तर्ज-तेवर-भाषा आदि के बारे में लगातार एक लम्बी अनाश्वस्ति के कारण प्रायः यह भी महसूस होता रहा कि कविता में बतौर कविता ध्यानाकर्षण भी क्षीण होता गया। इन सालों की कविता के प्रति अधिकांश मान्य व ख्यात लोगों द्वारा मुक्त रूप से दी गई तरजीह को देखते हुए अपने प्रकृतस्थ उधेड़बुन के भाव में इजाफा होता गया। इन बीते सालों में कविता के बीच से गुजरते हुए मगर उस कविता के सारे असर से कतराते हुए मैंने खासा चुप्पी और धैर्य से कविता की प्रतीक्षा करना अपने लिए सही माना है—स्वयं कविता कर सकने, पाठक होने व उसे लेकर सोचने समझने वाली अपनी स्थिति के नाते। यह बहुत ईमानदारी से कबूल कर लेना सुखद लग रहा है कि इस दौरान शायद ही कविताएँ पढ़ने की उत्कण्ठा अनुभव हुई हो, और इसके बावजूद जो कुछ भी मिला उसे पढ़ता जरूर रहा और तब प्रत्येक बार यह सच लगा कि मेरा कविता पढ़ने के लिये कोई उत्कण्ठित न होना वैचारिक स्तर पर सही बना रहा। कविता के प्रति अवमानना या उसके इन्कार का नहीं, अपितु उससे असन्तोष व उदासीनता की अपनी वस्तुपरक स्थिति से मैं स्वयं कभी हतप्रभ नहीं हो सका, यह बात इसी से सिद्ध समझी जाय कि मैंने इस दौर के तमाम कवियों में—रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा, कमलेश, धूमिल वगैरह से लेकर वेणु गोपाल, देवताले व इनके भी बाद के अनेकानेक नये-ताजे कवियों में एक बात सदैव पाई—काव्यात्मक प्रतिभा का सामान्य सतहीपन, काव्य चेतना से संयुक्त गहरी सौन्दर्य बोध की सामाजिक परिष्कृति से पलायन और मनगढ़न्त, वायवी, जार्गन प्रधान ऊलजलूलपन में स्वीकृत होते हुए कवित्वहीनता की परिणति में गर्क होते जाना। जनबोध के नाम पर विचित्र अराजक स्थिति का वह एक विहंगम परिदृश्य है। जनवादी चेतना से सरोकार बनाने के नाम पर वह सब निम्न पूँजीवादी क्रान्तिवाद का तयशुदा अभियान प्रतीत होता है। बहुत असंदिग्ध भाव से और बड़े निर्णयात्मक रूप में ऐसा मानते आ कर अब पा रहा हूँ कि कविता की प्रतीक्षा करना ठीक फैसला था—इसलिये नहीं कि अब कविता से उचित साक्षात्कार होगा वरन् इसलिये कि

बीते दस-बारह वर्षों में कविता को जो शक्ल देने की सामूहिकता (या एक जुटता ?) तैयार हुई थी, अपनी वस्तुपरक स्थिति में थोथी व पोली होने के कारण अपनी समाप्ति का संकेत देने लगी है। कविता के उस निम्न पूँजीवादी क्रांतिवाद जन्य अराजक स्वरूप का तेज विघटन दिखाई पड़ने लगा है।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उस बीच प्रभावशाली और सफल कविताएँ लिखी न गईं। इतने लम्बे समय में और रचनाओं की स्वतःस्फूर्त तादाद में निश्चय ही स्फुट रूप में अनेक ऐसी रचनाएँ आईं जो काव्यबोध के व्यापक और सचेत सृजनात्मक पक्ष का उत्साहवर्धक परिचय देती हैं। पर कहना न होगा कि उक्त प्रकार की सामूहिकता या एक जुटता में एकत्रित कवियों में अधिकांश न केवल तीसरे दर्जे की प्रतिभा के भी कवि नहीं थे बल्कि यह कहना संगत होगा कि काव्य के प्रयोजन से वे एकदम अपरिचित तो थे ही; रचनात्मक चिन्ता और उसकी साधनादायी लम्बी यात्रा के लिये भी नितान्त अपात्र थे। इन बातों की ओर ध्यान दिलाने वाला या कविता के उपयुक्त प्रयोजन की सहमति वाला कोई भी व्यक्ति उस दौर के रेले में खप नहीं सकता था। कह सकते हैं कि यह सीधी सचाई उस दौर के समूचे साहित्यिक प्रयास की सरल पहचान है, महज कविता तक ही वह सीमित नहीं है। उस वक्त की टेर 'सेमी पोएट्री' या 'फाल्स पोएट्री' या 'मास्कड पोएट्री' के रेडीमेड कवियों की कविताई की स्फीति आज जिस तेजी से उतार या ठहराव या वापसी का संकेत दे रही है यह इस बात की स्वीकृति है कि कविता के नये प्रतिमान बनाने या कविता की नई जिम्मेदारी तय करने का मतलब कविता को नष्ट करना नहीं हो सकता। वह काम मुश्किल, खतरनाक और आत्मभंजक ही होगा। जैसा कि प्रायः किसी न किसी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना की भूमिका में होता है—युद्ध, अकाल, राजनीतिक उथल पुथल को लेकर—इत्तफाक से उक्त प्रकार के कवियों की जनवादिता या जनपक्षधरता को आपातकाल में साँप सूँघ गया था अतः अब जनतंत्र की वापसी की जिस अमूर्त प्रतीति में वे मीसाई कविताएँ पेश कर अपनी भूमिका के स्खलन को छिपाने की प्रतीकात्मकता तलाशते दीख रहे हैं, उससे भी इसी बात की पुष्टि होती है कि पिछले दस-बारह वर्षों में कविता के नाम पर जैसा और जो कुछ लिखा गया वह अपने सार-तत्व में अनुल्लेखनीय ही रह जाएगा।

तो कविता के बारे में अपनी अनाश्वस्तिपरक प्रतीक्षारतता में यह महज संयोग ही माना जाय कि अचानक हाथ लग जाने पर 'रोशनी की शहतीर' नामक कविता संग्रह पढ़ कर हल्का सा इत्मीनान इस बात का हुआ कि कविता

के दस-बारह वर्ष के दौर को लेकर अपनी सोच-समझ में कोई दुराग्रह नहीं रहा। इस संग्रह को देखने से पहले मैं (दुर्भाग्यवश) इसकी लेखिका सुधा गुप्ता (गुप्ता या गुप्त, सही क्या है यह सुधा जी ही जाने) के नाम से भी एकदम अपरिचित था। 'रोशनी की शहतीर' की पन्द्रह कविताओं में सामाजिक प्रतिश्रुति की सजगता का स्पष्ट परिचय मिलता है। यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय इसलिये लगी कि अपनी तमाम् जागरूक और आधुनिक दृष्टि के बावजूद अधिकतर लेखिकाओं में या तो 'महिलामयता' का घुटता हुआ आत्ममंथन मिलता है या साहसिक होने की सीमा पर 'वुमन्स लिब' प्रेरित कुत्सित और अराजक विद्रोह का प्रदर्शन—और ये दोनों बातें सुधा जी की रचनाओं में नहीं हैं। यह साधारण बात नहीं मानी जाएगी। 'महिलामयता' में भावुकतामिश्रित स्त्रैणता का जो बोध आमतौर पर नारी सुलभ गुण माना जाता रहा है जो केवल विह्वल या आर्द्र या अश्रुप्लावित या गलदश्रु बना सकता है और प्रेमिल, स्वप्निल अनुभूति तक ही सीमित होता है—सुधा जी इस पारम्परिकता से रचनात्मक स्तर पर बहुत मुक्त दीखती हैं। नारी के 'इमैन्सिपेटेड' होने की स्वस्थ और प्रेरक दृष्टि सुधा जी की कविताओं में मिली। इसी नाते सुधा जी की अभिव्यक्ति में प्रायः बड़े सहज प्रवाह से प्रभावी बातें कही जा सकी हैं, यथा—

मेरी कविता के शब्द
उस गहराई तक उतरते हैं
जहाँ एक कामगर मजदूर
अपनी जान हथेली पर रख
नीचे बहुत नीचे खदानों में उतर
रोटी खोजता है।

यद्यपि उक्त अंश में चौथी पंक्ति भावुकतापूर्ण जनवादिता के तहत फालतू है और अंतिम पंक्ति 'नारेबाजी' के निकट लगती है फिर भी प्रभावान्विति में जो वज़न है वह पिछले दस-बारह वर्ष की कविताओं की मिथ्यावादिता के मुकाबले कहीं अधिक वस्तुपरक, संयत, वैचारिक और अनुभव जन्य है। सुधा जी को भाषा में प्रायः 'छायावादी' आभास वाली शब्द योजना भी मिली है जो अमूर्तीकरण प्रकट करती है, यद्यपि इसे मैं उनकी कविता की भाषा में थाह पाने के प्रयास का ज़रूरी अवरोध ही मानता हूँ। 'कितनी बेतरतीबी से जी रहे हैं जिन्दगी / पेड़ की शाखा प्रशाखा प्रतिशाखा सी'—इस कथनमें दूसरी पंक्ति केवल अनुप्रास की खूबी तक सीमित है अन्यथा निरर्थक ही है क्योंकि जिन्दगी

जीने की बेतरतीवी एक चीज़ है और शाखाओं का बेतरतीव होना दूसरी चीज़ है तथा यह तुलना न तो सटीक है न विचार-काव्य के स्तर पर निष्कर्षात्मक। पर सामान्यतः सुधा जी की भाषा जनजीवन को अभिव्यक्त करने में उस बौद्धिक जुगाली और 'ऐक्स्क्योरैण्टिज़्म' से मुक्त है जो तूफानी कविताओं में प्रचुर रूप से पाई जाती रही।

—हृषीकेश

प्रकाशक : पांडुलिपि प्रकाशन,
दिल्ली—११००५१०

समर गाथा / राजेश जोशी

'समरगाथा' राजेश जोशी की लम्बी कविता है जो 'पहल' प्रकाशन द्वारा पुस्तक रूप में प्रकाशित की गई है। इस कविता का काव्य-नायक एक मुक्ति योद्धा है जो सुनहरी जुओं (पुस्तक के पृष्ठ भाग में दिये गये 'शब्द-संकेत' तथा लेखकीय भूमिका के अनुसार शोषक शक्तियों का अभिप्राय देती हैं।) के संहार के निमित्त 'दृढ़ इरादों के शिरस्त्रांण और/सत्य का लोह कवच पहने/हथियार वन्द जनवाहिनी' के साथ निकल पड़ा है। कहानी के ढाँचे का उपयोग करते हुए राजेश जोशी अपनी कविता में मानव-जीवन के इतिहास को शोषक और शोषित शक्तियों के संदर्भ में उजागर करते चलते हैं। वह एक ऐसी दुनिया कविता में मूर्त्त करते हैं जिसमें कभी—

'आसमान-सी आँखों
और आईनों-सी आत्मा वाले लोग
और एक सोने का पहाड़ था
स्वर्ण हंस
हिरण्यगर्भ
जो सबका था···सबके लिए था।'

परन्तु बाद में चीते से नुकीले नाखूनों वाली जादूगरनी का—

'फौलाद की काली शिराओं वाला वह जाल
जिसमें पाशविक प्रवृत्ति का काला खून बहता था
गिरा और जकड़ता चला गया

हथौड़े, हल और कलम की कलाई को
पसीने की पीठ को,
यात्रा के पैर को,
सम्वेदना को, दृष्टि को, बुद्धि को, स्याही को
जकड़ता चला गया,
रंग धनुषों को, हिलते रूमालों को,
गिनतियों को '

यही नहीं वह इस कविता में समकालीन राजनैतिक-सामाजिक जिन्दगी के ढेर सारे तथ्यों व घटनाओं को समावेशित करके उन शक्तियों का विश्लेषण करते हैं जिनके शोषित जन को उनका उचित दाय नहीं मिलता और बदले में भूख, बेकारी, बीमारी, यंत्रणा, हिंसा, अकाल मृत्यु, जुर्म, सजा, गोलीबारी, षड्यंत्र आदि का सामना करना पड़ता है। भावुकता में ही सही राजेश का कवि-मानस ईसा, बुद्ध, गांधी व नेहरू के आदर्शों व उनके शांति प्रयत्नों को प्रश्नांकित करता है—'रोम-रोम में बसी इस हिंसा का इलाज क्या है? सारी दुनिया की रंगों में ठण्डे जहर की तरह उतारे जा रहे—इस जहर का इलाज क्या है?'

जाहिर है कि विचारों से मार्क्सवादी कवि राजेश जोशी कविता के अन्त में उसी मुक्तिसंघर्ष की विजय कामना करते हैं जिसकी शुरुआत आदिम युग में ही हो गयी थी।

इस लम्बी कविता में ब्यौरों की भरमार है। नामों बिंबों व भाववाचक संज्ञाओं की भीड़ में कविता में व्यक्त अनुभव विरल हो जाता है। उसकी रचनात्मकता को खासी ठेस पहुँची है। आखिर कविता अपनी सार्वजनिकता में भी निरा बखान नहीं है और न ही सामान्यीकरण की ओर उलझा जाने वाली चीज। मानवीय जीवन के वाह्य तथा अन्त जगत दोनों को किसी भावुकता के तहत् नहीं; बल्कि अपनी गहरी संवेदना और मानवीय सहानुभूति से जोड़कर देखना कविता को और अधिक विश्वसनीय, मार्मिक और प्रासंगिक बनाने का ही उपक्रम है। उनको अगली कृतियों में राजेश जोशी से ऐसी अपेक्षा करना अनुचित नहीं है।

प्रकाशक : पहल प्रकाशन
७६३, अग्रवाल कॉलोनी, जबलपुर। मूल्य : ३ रुपये

कविता तोड़ती है / ध्रुवदेव मिश्र पाषाण

'मेरी यात्रा की रेखायें टेढ़ी तो हैं मगर अनजान नहीं हैं प्रकाश की गति से' संभवतः ध्रुवदेव मिश्र पाषाण के कविता-संग्रह 'कविता तोड़ती है' की 'मैं' शीर्षक

कविता की उपर्युक्त पंक्तियाँ मेरे विचार से उनकी कविताओं से परिचय का अच्छा आधार बनती हैं।

पाषाण की इन कविताओं में जैसा कि इस दौर के अधिकांश वाम पंथी युवा कवियों की कविताओं में है—आमतौर पर व्यक्त होने वाली व्यवस्थाजन्य दुरभिसंधियों व उनके परिणामों को भोगता शोषित व्यक्ति है। मानव विरोधी शक्तियों के विरुद्ध खड़ा उनका कवि अपनी छटपटाहट और बेचैनी के राजनैतिक-सामाजिक स्थितियों और उनके अनिवार्य अन्तर्विरोधों से जोड़कर देखने का प्रयास करता है :

'सड़क पर शायद झंडे का कफन
माँग रही थी तुम्हारी लाश
मगर झंडा तुम्हारा कफन नहीं बनेगा आज
उसे तो चीथड़ों में बाँट रहें हैं वे
जिनके लिए बात के साथ
मैदान में उतरती हर लड़ाई
आज की गलत शुरूआत होती है
मेरे लिए दुश्मन के दलाल थे तुम
और तुम्हारे लिए मैं हीं था
उसका दायां हाथ (शिनाख्त)
फूंक से उड़ जाने वाले तिनकों के ढेर
पहाड़ लगने लगे हैं
अदृश्य कदमों की खौफनाक धमक
से डर कर
आदमीनुमा कीड़े पेट के बल
धरती से सटे हैं,
(हिन्दुस्तान ७६)

बेशक, ऊपर से देखने पर इस संग्रह की कविताओं में अधिकांश विषय और उक्तियाँ कवि को विशिष्ट राजनैतिक चेतना से जुड़ी हुई मिलेंगी। 'अंधेरे से जूझने के जुर्म में गायब कर दिये गये चेहरे', 'ऊबड़-खाबड़ घरों पर दौड़ाये जाते बुलडोजर' 'जालिम शहर', 'शोषण', 'ताड़ की ऊँचाई से बेखौफ फुफकारती साँपिन', संविधान', 'पार्लियामेण्ट', 'संगीनों की इबारत', 'झंडे का कफन' इत्यादि।

परन्तु बावजूद अपनी कविता को समकालीन राजनैतिक सामाजिक चेतना से जोड़ने और उसके माध्यम से आधुनिक जीवन की भयावहता को प्रस्तुत करने

में पाषाण चालू मुद्राओं और सरलीकरणों से कम ही बच पाते हैं। राजनीतिक विचारों और आम आदमी की जिन्दगी में हो रही उथल पुथल से अपने सरोकारों को जोड़ने और कविता में अपने संश्लिष्ट अनुभवों को चरितार्थ करने के निमित्त जिस प्रकार के कलात्मक संयम व आंतरिक अनुशासन की आवश्यकता होती है, 'पाषाण' में उसका खासा अभाव प्रतीत होता है। इन कविताओं से होकर गुजरने पर इस अहसास से बचना कठिन लगता है कि उनमें व्यक्त अनुभव अधपका, सामान्यीकृत और अधिकांशतः विवरणात्मक ही है। आश्चर्य नहीं कि प्रस्तुत कविताओं की भाषा में सपाटता और इकहरापन स्पष्ट परिलक्षित होता है।

प्रकाशक :
जनचेतना प्रकाशन
३८९, जी० टी० रोड,
हवड़ा—६

सूर्य पुत्र / जगदीश चतुर्वेदी

जगदीश चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक नवीन काव्यकृति 'सूर्य पुत्र' के प्राकक्थन में अपना काव्य प्रयोजन इस रूप में प्रस्तुत किया है :

"महाभारत के एक प्रमुख पात्र कर्ण को मैंने इस काव्य का मूल स्त्रोत बनाया है और उसके जीवन की यातना और संघर्ष को आज के मनुष्य के द्वंद्व और विसंगति से अनुप्राणित कर एक नये भावबोध से संपृक्त करने का प्रयास किया है।"

इसमें शायद संदेह की गुंजायश कम ही है कि महाभारत के पात्रों और उसके विभिन्न कथा प्रसंगों का उपयोग वर्तमान परिवेश जिसमें जीवन अधिकाधिक उथला, कुंठित, भयग्रस्त, अर्थच्युत और मूल्यहीन होता जाता है को ठोस और गहरे ढंग से समझने और अपनी रचनाओं को प्रासंगिक बनाने के लिए किया जा सकता है। यदि मिथकीय और ऐतिहासिक चरित्रों को अपनी रचना का आधार बनाते समय, रचनाकार में परम्परा का अन्ध समर्थन अथवा उसे जड़ग्रस्त बनाये रखने का व्यामोह शेष नहीं है, बल्कि विकसित चेतना के परिप्रेक्ष्य सृजनात्मकता की वस्तुपरक भूमि पर आकर कथा-विकास करने, नयी भाव-स्थितियों व अंतर्द्वंद्वों को प्रस्तुत करने की कोशिश परिलक्षित होती है तो निश्चित रूप से वह अपनी सांस्कृतिक-साहित्यिक परम्परा को नवीन संदर्भों में पुनर्व्याख्यायित और व्यापक स्तर पर गतिशील बनाने के प्रयासों में उसकी संलग्नता का प्रमाण है।

प्रस्तुत कृति में जगदीश चतुर्वेदी ने महाभारत की कथा में से कर्ण से सम्बन्धित कथा-प्रसंगों को लेकर उसे एक प्रबन्ध-काव्य का रूप दिया है। जाहिर है कि 'सूर्यपुत्र' के माध्यम से अपनी शंकाओं और प्रश्नों को जब पाठकों के सम्मुख वह प्रस्तुत करते हैं तब सहज ही दो प्रश्न हमारे मन में उठते हैं। कवि की इन शंकाओं और प्रश्नों का समकालीन समाज के अंतर्विरोधों से किन रूपों में संगति बैठती है ? इनका किस सीमा तक कलात्मक निर्वाह संभव हो सका है ?

सबसे पहले मर्यादाओं और परम्परागत मूल्यों की निरर्थकता का सवाल। जगदीश चतुर्वेदी तथाकथित अकविता सम्प्रदाय के प्रतिनिधि कवियों में रहे हैं, इसलिए स्वभावतः अपनी रचना में मर्यादाओं (विशेष रूप से नर-नारी विषयक यौन-वर्जनाओं के प्रति), सामाजिक नियमों व जीवन मूल्यों के प्रति घोर वितृष्णा को अभिव्यक्त करने की अपनी विशिष्ट मुद्रा और तेवर बरकरार रखते हैं :

सोच रहे थे सूर्य—
यह उम्र प्यार करने की है या वात्सल्य में
मग्न रहने की
परिवार के दायित्व निभाने की है
या पृथा के कच्चे शरीर की
मदांध गंध को चिरपिपासु की तरह
तलछट तक पीने की।

× × ×

मर्यादा की खोखल में से
सूर्य का चेहरा जब बाहर आया
तो वो एक प्रेमी के मुख में बदल गया था
जिसमें उद्दाम काम था
असीम वात्सल्य था
एक ऐसी शांति थी जो न संतों को मिलती है
न मुर्दों को
(पृष्ठ :— ८-९)

× × × ×

सुख के विरोध में बनाये गये
ये सामाजिक नियम

ये संहिताएँ
यहप्राणघातक प्रणाली
इनको मैं ठोकर मार सकती हूँ दिनेश
यदि तुम सहारा दो
(पृष्ठ–१६)

ज़रूरी नहीं कि कुन्ती और सूर्य को जो दोनों ही रक्त-मांस केन्द्रित प्रेम के लिए भूखे हैं, अपने शरीर की वासना की तुष्टि करते हुए उन्हें किसी लोकोत्तर आंकाक्षा से जुड़े हुए चित्रित किया जाय। परन्तु नर-नारी सम्बन्ध को आवेगात्मक यथार्थ के धरातल पर देखने के प्रयत्न में भी जगदीश चतुर्वेदी की संवेदना वैसी स्पष्ट और विशद नहीं है जैसे कि दिनकर की 'उर्वशी' में है।

इसी प्रकार जाति, समाज, वर्ग इत्यादि के विरुद्ध कवि-प्रतिक्रियायें—बावजूद अपने उग्र स्वरों के—सरलीकृत स्थितियों का उदाहरण बन पाती हैं, किन्हीं सामाजिक-राजनैतिक सच्चाइयों तथा तनाव ग्रस्त मानव-सम्वन्धों से साहसभरा साक्षात्कार नहीं।

अपने जीवन का अर्थ जानने की चिन्ता आधुनिक समाज की प्रमुख चिन्ताओं में से एक है जो कि स्पष्टतया 'अस्तित्ववाद' के अन्तर्गत है। जगदीश चतुर्वेदी का काव्य-नायक 'कर्ण' उन अर्थों में अस्तित्ववादी नहीं है जिनमें पश्चिमी समाज का कोई व्यक्ति अपने होने को परिभाषित करता है। वह (कर्ण) यदि अपने होने की चिन्ता करता है तो सार्थक जीवन व्यतीत करने का हल भी पा जाता है और स्वयं को संतुष्ट कर लेता है :

'जीवन का अर्थ लगा केवल परोपकार केवल सर्वस्व दान।'

इसलिए 'कर्ण' के चरित्र में कोई विसंगति कम से कम आधुनिक अर्थों में नहीं हैं और शायद इसी कारण कवि उसके अन्तर्मन में गहरे पैठने की वैसी ज़रूरत भी नहीं महसूसता, जैसी 'आत्मजयी' में 'नचिकेता' के लिए कवि कुँवर नारायण महसूस करते हैं और एक बड़ी सीमा तक चरितार्थ करते हैं।

इस बहस में न भी पड़ें कि इस रचना में किस वर्ग का संसार रचा गया है और इसमें प्रतीकार्थ आम आदमी के जीने की व्यथा और झंझट से रचनाकार का साक्षात्कार क्यों नहीं हो पाता तो भी यह शिकायत अनुचित नहीं है कि इस अतिपरिचित कथानक के ढाँचे में जीवंत मानवीय स्थितियों और उनसे फूटते अंतर्द्वंद्व को गहराई के साथ अन्वेषित और विश्लेषित नहीं कर सके हैं। मसलन् इसमें युद्ध-वर्णन के प्रसंग हैं। कहा जा सकता है कि इनमें एक तरह का सरल कथा-वर्णन है और जिस तरह से धर्मवीर भारती के 'अंधायुग' में द्वितीय विश्व युद्ध के परिणाम स्वरूप मानव-जीवन को भय, आतंक, निराशा, निरर्थकता इत्यादि को

अपने में समाहित करने वाला संसार विन्यस्त होता है, 'सूर्य पुत्र' में ऐसा नहीं प्रतीत होता है। उसमें अनुभव की रचना नहीं बल्कि बखान ही है।

[चतुर्वेदी जी ने 'कर्ण' को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में देखने की बात कही है। लगा—यह थोथा दंभ है। 'महाभारत' में जितनी आधुनिकता, एवं मार्क्स-दृष्टि है; उसका दो प्रतिशत भी न हम आधुनिक हुए हैं, न मार्क्सवादी।—सम्पादक]

वस्तुतः एक प्रबन्ध-रचना के अनुरूप जो एक प्रौढ़ चिंतन भूमि प्रगतिशील सौंदर्य दृष्टि और कलात्मक परिपक्वता की अपेक्षा हो सकती है, जगदीश चतुर्वेदी का कवि-व्यक्तित्व 'सूर्यपुत्र' के माध्यम से समुचित प्रमाण नहीं दे पाया है।

● अम्बिका सिंह वर्मा

प्रकाशक : दि मैकमिलन
कम्पनी ऑफ इण्डिया
लिमिटेड
दिल्ली,

चतुरंग-चर्चा : फाल्गुनी रंग में

● जुबाँ को बन्द करें चाहे मुझे असीर करें,
मेरे ख्याल को बेड़ी पिन्हा नहीं सकते।
वो कहें तो शिक़ायत का जिक्र कम कर दूँ,
मगर उनके वायदों पे यक़ीं ला नहीं सकते।।

● कि उ० प्र० हिन्दी संस्थान, लखनऊ द्वारा संस्थान के गठन का एक वर्ष पूरा होने के उपलक्ष्य में रवीन्द्रालय में १४ जनवरी ७८ को सायंकाल ६ बजे एक समारोह का आयोजन किया गया। जिसकी अध्यक्षता आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने की। इसी अवसर पर हिन्दी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित २०० वें ग्रंथ का प्रकाशन-उदघाटन उ० प्र० के मुख्य मंत्री द्वारा हुआ।

मंच पर श्री अमृतलाल नागर, भगवती चरण वर्मा, सी० बी० गुप्त, शिक्षा मंत्री, मुख्य मंत्री एवं द्विवेदी जी उपस्थित थे। रवीन्द्रालय में उपस्थिति इतनी अधिक थी कि सीट के अभाव में बहुत से श्रोताओं को खड़ा ही रहना पड़ा। इस समारोह में विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों के प्राध्यापक भी आमंत्रित थे।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित प्रत्येक विषय की पुस्तकों का परिचय दिया और कहा कि ये ग्रंथ अंग्रेजी पुस्तकों से किसी भी प्रकार उन्नीस नहीं हैं। महाविद्यालयों-विश्वविद्यालयों में चूंकि अँग्रेजी का चलन है, फिर भी अकादमी-ग्रंथों को छात्रों ने अपनाया है। अपनी मातृभाषा के माध्यम से उन्हें अपने पाठ में सहजता-सरलता दिखी है। मैं तो यह कहना चाहूँगा कि अदालतों में अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी का प्रयोग होने लगे, तो हिन्दी के साथ-साथ अकादमी के इन ग्रंथों की उपयोगिता भी सिद्ध हो जायगी।... कानून के ग्रंथों का प्रकाशन करने की दिशा में हमारा आगामी काल में यह प्रयास होगा कि अकादमी साधारण अदालतों और उच्च अदालतों के कानून मर्मज्ञों को आमंत्रित करेगी और गोष्ठी का रूप देकर कानून की पुस्तकों के प्रकाशन पर राय-मशविरा लेगी।... निकट भविष्य में अकादमी के एक सौ ग्रंथों का दूसरा संस्करण प्रेस में दिया जायगा।—इतने कम समय में अकादमी का यह कार्य उत्साह वर्द्धक है।'...तालियों का समवेत स्वर बार-बार उठता रहा और द्विवेदी जी का वक्तव्य जारी रहा।'...श्रीठाकुरप्रसाद सिंह के चेहरे पर सफलता की झलक थी।

इसी अवसर पर स्व० श्री यशपाल के कथानक पर एक नाटक 'नशे-नशे की बात' का मंथन ८ बजे से आरम्भ हुआ। नाटक देखने के लिये 'चतुरंग' को मध्यान्तर के बाद अपनी सीट खाली नहीं मिली। अत: नाटक देखने का लाभ न मिल सका।...

● कि लखनऊ में 'यशपाल-पुरस्कार' की अनोखी कहानी सुनने में आई। श्रीमती प्रकाशवती को 'साहित्य अकादमी' ने स्व० श्री यशपाल के उपन्यास पर पाँच हजार रुपयों का पुरस्कार दिया था। प्रकाशवतीजी ने इस पुरस्कार की राशि को अपने लिये न रख 'यशपाल की परम्परा वाली तीन कृतियों पर' दे देने का निश्चय किया। पुरस्कार-समिति के सदस्यों ने एक मत से मलयालमी उपन्यास लेखक श्री आनन्द, कहानीकार स्व० इब्राहीम शरीफ को तो चुन लिया; लेकिन हिन्दी के तीसरे उपन्यास लेखक के चुनाव में मतभेद पैदा हो गया।

पुरस्कार-समारोह के अवसर पर एनाउन्सर थे श्री राजेश शर्मा। राजेश शर्मा एवं मुद्राराक्षस तीसरा पुरस्कार अपने अभिन्न मित्र की पत्नी श्रीमती शीला रोहेकर' के एक छठे दर्जे के उपन्यास पर देने के लिये 'यशपाल की परम्परा' को ताक पर रख, लालायित थे। तीसरे पुरस्कार की बारी आते ही चौकस राजेश शर्मा ने एनाउन्स किया था—श्रीमती शीलारोहेकर का नाम!... दर्शक, पुरस्कार समिति के सदस्य अवाक सुन रहे थे।...श्रीमती प्रकाशवती भी इसे ज्यादा तूल न देकर मौन हो इस पीड़ा को सह गईं। राजेश शर्मा एवं मुद्राराक्षस से पूछा जा सकता है कि 'शीलारोहेकर' के उपन्यास ने यशपाल की परम्परा' को किधर से और किस पन्ने पर अक्षुण्ण रख सकने में सफलता प्राप्त की है?...क्या इस धांधली पर, प्रगतिशील लेखक एवं श्रीमती प्रकाशवती मौन ही रह जायेंगे?...श्रीमतीशीलारोहेकर को चाहिये कि ईमानदारी से 'पुरस्कार' को वापस कर दें। ..वह महिला हैं और किसी नेक महिला को ठगी या किसी धांधली से अपने को अलग ही रखना चाहिये। नेक और ईमानदार पुरुषों की तरह!—धरती इनसे खाली नहीं है।

● कि नेक और ईमानदार पुरुषों से भी कुछ एक ग़लतियाँ बड़ी भयावह हो जाती हैं। 'उ० प्र० जल निगम' के पी० आर० ओ० श्री नरेश सक्सेना इसके उदाहरण हैं। आप ने 'उ० प्र० जल निगम' के दूसरे अधिकारियों एवं ऑफि-सरों तथा लखनऊ के अधिकांश घासलेटी लेखकों को अपनी तेज़ बुद्धि (!) का सबूत 'उ० प्र० जल निगम' के प्रचार-सामग्री [विज्ञापन] की शुरुआत स्व० मुक्तिबोध की इन पंक्तियों को इस्तेमाल में लाकर दिया है—

एक पाँव रखता हूँ

कि हजार राहें फूटती हैं
मैं उन सब पर से गुजर जाना चाहता हूँ ।

'मुक्तिबोध'

इन पंक्तियों के नीचे 'उत्तर प्रदेश जल निगम' की प्रचार सामग्री है ! विश्व बैंक द्वारा प्राप्त ६० करोड़ रुपयों के द्वारा 'निगम' 'मुक्तिबोधीय सभी रास्तों, से गुजर जाना चाहता है । 'मुक्तिबोध' के जीते जी 'उनके रास्ते से होकर कोई नहीं गुजरा ! यह कितनी निन्दनीय बात है कि श्रीमान् नरेश सक्सेना को 'मुक्तिबोध' के जीवन का उनके चरित्र का, उनके स्वाभिमान का अहसास तक नहीं है !

लखनऊ के दैनिक पत्रों, साप्ताहिक पत्रों अथवा मासिक पत्रों में 'जल निगम' की वही प्रचार-सामग्री प्रकाशित होती रही है । 'चतुरंग' ने उ० प्र० जल निगम का विज्ञापन 'सनीचर' के लिये लेना नहीं चाहा । 'चतुरंग' के लखनऊ से कानपुर चले आने के बाद २६ जनवरी के 'दैनिक विशेषांकों में 'जल-निगम' का दूसरा मैटर दिखाई पड़ा ।···श्री नरेश सक्सेना के दोस्तों से 'चतुरंग' ने उस विज्ञापन-मैटर का विरोध किया था ।···

श्री नरेश सक्सेना 'उ० प्र० जल निगम' में जन-सम्पर्क अधिकारी हैं । उनका जन-सम्पर्क 'उ० प्र० जल निगम' के कार्यालय से नहीं होता; बल्कि वह स्वयं स्कूटर से कार्यालय से बाहर रहकर जन-सम्पर्क करते रहते हैं । 'उ० प्र० संगीत-नाट्य अकादमी' की पत्रिका 'छायानट' के दूसरे अंक का सम्पादन नरेश जी ने किया है । पहले अंक का सम्पादन श्री मुद्राराक्षस ने किया था । बहुत दिनों से मुद्रा जी की पटरी अपने आप से ही नहीं खा रही है तो किसी संस्थान से पटरी खाने का सवाल ही कहाँ उठता है । आकाशवाणी हो, टेलिविजन हो या कोई नाट्य अकादमी हो, वहाँ ऊँची-ऊँची कुर्सियों पर बड़े-बड़े मूर्खानन्द बैठे हैं; जो यह चाहते हैं कि 'एक छोटे से कार्य के लिये' लेखक उनकी हाज़िरी भरे और मुँह पर उनका गुणगान भी करे और उनकी काबिलियत का शहर भर में ढ़िढ़ोरा भी पीटता रहे । तब भला मुद्राराक्षस इसे कैसे बर्दाश्त करेंगे ? मुद्रा जी का यदि मूड चढ़ जाय और 'अच्छा खासा सार' उन्हें दिखाई पड़े, तब देखिये उनकी वाणी में कितनी शहद होती है ।···खुशामद और फिर आमद भी कायदे का न हो तो उसे इन्टेलेक्चुअल कैसे कर सकेगा ?

● कि 'आकाशवाणी' लखनऊ-रामपुर' केन्द्र से १३ फरवरी ७८ की रात में एक मुशायरे को नस्र किया गया । जितने शुअरा थे—कलाम प्रायः सभी के उम्दा थे । लेकिन उस मुशायरे के कक्ष में बैठे श्रोताओं ने जो भड़ैती की, वह

केवल लखनऊ में ही मिल सकती है। श्रोताओं ने वो ज़ोर-ज़ोर से गज़ल के शेरों-मक़तों को दुहराना शुरू किया कि लगा प्रोग्राम पेश करने वाले अधिकारी व्यक्ति को इस बात का ख्याल क्यों नहीं आया कि 'आकाशवाणी' पर सब्जी मण्डी का-सा नीलामी बोलियों का शोर बाहर के श्रोताओं को बोर कर रहा होगा और उस शोर में गज़लों के मिसरे उन्हें सुनाई नहीं पड़ते होंगे! • 'आकाशवाणी' 'भड़ैती का अड्डा' तो पहले से ही है, इसलिये 'चतुरंग' पाकिस्तान के लाहौर रेडियो से नस्र की गई गज़लें सुनते हैं, ढाका से 'बाँग्ला गान' सुनते हैं और खबरों के लिए बी० बी० सी० सुनते हैं। और 'चतुरंग' का यह रिकार्ड रहा है कि 'आकाशवाणी' को दिलोदिमाग से हमेशा अलग रखा और बड़ी रंगीन पत्रिकाओं से अपने को सदैव बचाया।

● कि एक शाम तकरीबन सात बजे लखनऊ में 'चतुरंग' कॉफी हाउस चले गये। अपन जाते तो रोज़ थे और कॉफ़ी का दौर भी चलाते थे, लेकिन उस शाम ज्योंही अपन अन्दर हुए कि मुद्रा जी की मित्र-मण्डली [विरादाराना मण्डली कहना न्याय संगत होगा] कोने वाली टेबुल से उठकर बाहर हो रही थी। मुद्रा कुछ कहते हुये चले गये। अपन, उसी कोने वाली टेबुल की एक कुर्सी पर 'ब्रीफ केस' रखा और दूसरी कुर्सी पर बैठे। बैठते ही टेबुल के पास फर्श पर पड़े एक बड़े लिफाफे को उठाया। पता नहीं किस 'जीनियस' का यह लिफाफा असावधानी में सरककर नीचे चला गया था। लिफाफे को टेबुल पर रख 'चतुरंग' ने पॉकिट से दस पैसे का एक सिक्का निकाल टेबुल पर खटखटाना शुरू किया। चौंके लोग और टेबुल के बहरे बेहरे ने काउण्टर से आते हुए हाथ से इशारा किया। फिर मैं सिक्के को पॉकेट में डाल शहर के लोगों के चेहरे देखने लगा।···अधिकांश रंडुए-से राजनीतिक पार्टियों के कार्यकर्त्ता लगे।···

बेयरे को सादा दोसा और ब्लेक काफी साथ-साथ लाने के लिये कह कर मैं दरवाजों की तरफ इस आशा के साथ देखने लगा था कि संभव है लिफाफा अधिकारी लिफाफे की खोज में टेबुल तक आये।...

रात 'स्टेट गेस्ट हाउस' के ३५ न० फ़्लैट में पहुँच कर चाय पी। श्री राम पाण्डेय के सेवक ने चाय पिलाई। पान जमाया। वाराणसी में पान का मजा लुप्त हो गया है। बढ़िया जर्दा आप को शायद ही किसी दूकान पर मिले। सादी पत्ती सुर्ती का रिवाज चल पड़ा है वहाँ। और 'चतुरंग' की जीभ पर बाबा १२० का रंग चढ़ा हुआ है। लखनऊ में मगही १२० जर्दे के साथ दो दुकानों पर सुलभ था। शनि की कृपा थी!...

इत्तमीनान से लिफाफे के अन्दर की सामग्री निकालकर देखने लगा।...

लिफाफा सादा था और खुला हुआ था। गनीमत थी वर्ना चतुरंग तो उसे हरगिज न खोलते! जबकि उन दिनों लखनऊ के कॉफीहाउस में एक हजार रूपयों वाली नोट की बाढ़-सी आ गई थी और हजार के नोट छः सौ में बिक रहे थे। नोट और सिक्कों की परवाह नाले में गिरे हुए शराबी को भी रहती है। भला, सहजावस्था में नोटों का लिफाफा कौन भुला सकता है?...टेबुल पर लेखक-वर्ग बैठा हुआ था! जो बीबी की डपट से अथवा तंगदस्ती से या अपने उटपटांग खर्चे से परेशान-सा रहता है।...जब 'शनि' खुश होता है तो छप्पर फाड़ कर देता है। बैठे-बिठाये कितना बढ़िया मैटर मिला 'चतुरंग' को 'चतुरंग' चर्चा के लिये। किसी पत्रिका से या पुस्तक से निकाले गये लेख के कुछ पन्ने हैं, जिसके शीर्षक के ऊपर किसी पाठक ने 'बधाई' लिखी है और कहीं कहीं कुछ पन्क्तियों की बगल में लकीरों के पास हाशिये पर हाथ से, लिखा हुआ 'मत' है।... लगा कि इस कार्य को किसी लेखक ने ही सम्पन्न किया है।...'चतुरंग' ने लेख को और हाशिये पर व्यक्त 'मत' को पढ़ डाला! 'चतुरंग' की खुशी का ठिकाना न था।...ख्याल आया कि 'नई कहानी' के दूसरे अंक में प्रकाशित श्री राजेन्द्र यादव का यह वही लेख है। उन पन्नों पर कहीं भी 'नई कहानी' का नाम नहीं छपा है।...

व्यक्तित्व

कृष्णा सोबती

खूबसूरत मुहावरे, नपी-तुली शब्दावली...
राजेन्द्र यादव

लेख के दूसरे पृष्ठ पर दूसरे पैराग्राफ की बाईं तरफ [पैराग्राफ पर लकीरें हैं।] हाशिये पर मत व्यक्त है :—

"सुनो! भीतर के भीतरी सरहदों पर केवल गुरिल्ला ही पहुँचते हैं। उन्हें कोई रोक नहीं पाता मुझे दुःख हुआ कि तुम...अभी भी हनूमान ही हो। जो नारी के पास जाता भी है तो बड़ी श्रद्धा से...... नारियल और भात खाया पिया करो!"

तीसरे पृष्ठ की बारहवी-तेरहवीं पंक्ति के नीचे लकीर है। हाशिये पर लिखा है :

"काश! तुम्हारा पैर दुरुस्त होता तो तुम्हारे लिये भी उनके मन में मोह मिश्रित सम्मान रहता।"

चौथे पृष्ठ के तीसरे पैराग्राफ की पंक्तियों के नीचे लकीरें हैं। हाशिये पर है:

"निराश होने के बाद सही बात लिख दी जाती है। कितने दिनों से भटक

रहे हो ?" पाँचवें पृष्ठ की दूसरी पंक्ति के नीचे लकीर है । मत है :

"यह बात तुम्हारे अन्दर है, इसलिये तुम्हें ऐसा लगता है। यह भी हो सकता है कि ये...हफ्तों के नहीं, चन्द मिनटों की देन हों ।"

पाँचवें ही पृष्ठ की चौथी-पाँचवीं-छठी पंक्ति को रेखांकित कर मत व्यक्त है :

'यहाँ ज़ाहिर हुआ कि तुम्हारी उपरोक्त बात ही सही है ।'

'चलो यार ! मान लिया कि वे बहुत मिहनत से, बहुत तल्लीन हो कर लिखती हैं । जैसे—कोई युवती बिस्तर पर तल्लीनता से अपने काम में जुट जाती है ।'

छठे पृष्ठ के दूसरे पैरा की शुरू की तीन पंक्तियों को अण्डरलाइन किया है । उपिनियन इस प्रकार है :

'मूर्खता की हद को छू रहे हो यहाँ !'

आठवें पृष्ठ के अन्तिम पैरा में पाँचवीं पंक्ति से लकीर नीचे तक चली गई है और हाशिये पर दर्ज है ।

'सही व्याख्या ।'

नवें पृष्ठ के आधे भाग को रेखांकित कर लिखा गया है :

'सुन्दर ! जिओ !! कमलेश्वर की ३ कहानियों की नायिकाओं की उम्र ले कर जिओ !'

नवें पृष्ठ पर ही दूसरे पैरा की तेरहवीं पंक्ति की शुरूआत—सुन्दर उपमाओं—के आगे निशान लगा कर जोड़ा गया है—

'एवं वासना कों दमित करने वाली सामाजिक रूढ़ि-फिक्रों '

दसवें पृष्ठ की शुरू की चार पक्तियों पर तिलक लगाया गया है :—

'सुन्दर'

[लेख का दसवाँ पृष्ठ नई कहानी का २९ वाँ पृष्ठ है ।]

ग्यारहवें पृष्ठ के अन्तिम पैरा की अन्तिम पाँच पंक्तियों पर रिमार्क है :

वह कला [बेड रूम की] तो कोई धाघ कलम, कोईसंस्कृत-विद्वान [जिसका अनुभव 'आचार्य चतुरसेन शास्त्री' की तरह विराट हो] ही प्रकट कर सकता है !'

बारहवें पृष्ठ के समूचे दूसरे पैरा को रेखांकन में बाँध हाशिए पर यह निचोड़ भी देखने लायक है :—

'यह बिचली पीढ़ी की देन है और पूंजीवादी साहित्य एवं कला की माँग भी है कि 'उन्होंने' उन्हीं पात्रों को कहानियों में लिया जो आर्थिक संकट से, सभी अनैतिक संकटों से मुक्त थे।'''महिला लेखिकाओं की निजी अतृप्त वासना की वास्तविकता को झलक उन आभिजात्य कहानी-नायिकाओं के चारित्रिक चित्रण

में मिलती है।'

लेख के अन्तिम पृष्ठ के दूसरे पैरा की शुरू की साढ़े चार पंक्तियों पर मंत की अभिव्यक्ति :

'सब कुछ अच्छा कहते-कहते अन्त में तुमने 'सब कुछ' गुड़ गोबर कर दिया।···बात तो तुम्हारी बिल्कुल सही है। और यही निर्णय तुम अपनी कहानियों के बारे में भी समझ लिया करो। अब तुम्हें मैं 'सब मिलाकर' तुम्हारे इस समीक्षात्मक लेख पर यह कहना चाहता हूँ कि सुनने में आया है कि लखनऊ के बुढ़ऊ लोग, कानपुर के कहानीकारों से लेकर इलाहाबाद के कहानीकार तक यह चाहते हैं कि उनकी कहानी-उपन्यासों पर इसी तरह जीवन्त समीक्षात्मक लेख लिखो! सावधान हो जाओ! क्यों? क्योंकि ऐसा लेख अब तुमसे लिखा ही नहीं जायगा। कोई दूसरी 'कृष्णा सोबती' आये कहानीकार बनकर, और तुमसे परिचित हो जाय, तुम उसकी निकटता में रहो और वह तुमसे 'बुर्के' के अन्दर से बात-चीत करे, तो भले ही 'उस कशिश' की 'ऐंठ' में इसी तरह का दूसरा लेख लिख दो। महिलाओं में जो चुम्बकीय तत्व होता है, अगर वे उनका इस्तेमाल करें तो उस इस्तेमाल से हजारों 'राजेन्द्र यादव' निकलेंगे!···क्या वे उसका इस्तेमाल नहीं करती होंगी?···करती हैं।

यह कटिंग अपने मत के साथ तुम्हें भेज रहा हूँ। एकान्त में पढ़कर इसे लौटा देना। तुम्हारा नया शगल कहाँ तक पहुँचा, यह भी लिखना। वहाँ भी तुम 'मात' ही खाओगे। क्योंकि तुम्हारे पास सभी किताबी अनुभव हैं।···तुम्हारा

पी० आर० ओ०

● कि वाराणसी के लेखक श्री विश्वनाथ मुखर्जी को सम्मान देने के लिए कलकत्ते की एक संस्थाने उन्हें आमंत्रित किया। 'सम्मान' की बात सुनकर मुखर्जी भड़के। कई दिनों तक भड़कते रहे। मित्रों ने उन्हें ठेल-ठाल कर ट्रेन में बिठा दिया। सम्मान-समारोह में जब उन्हें थैली भेंट करने की बात की गई तो मुखर्जी वहाँ से चुपचाप खिसक गये। हावड़ा से भागलपुर के लिए रवाना हो गये। सुना गया कि भागलपुर में उनका ३ दिन का प्रोग्राम था। पैसों की कमी से वे दूसरे दिन ही वाराणसी आ गये। इक्कीस हजार की थैली अस्वीकार कर वापस आने के बाद वाराणसी के बुर्जुआ तबके ने इसकी कोई नोटिस नहीं ली। न ही यह समाचार पूंजी जुटाने के चक्कर में रात-दिन मक्खन लगाने वाले पत्रकारों ने छापा। अलबत्ता लेखकों ने विश्वनाथ मुखर्जी को हाथो हाथ लिया। शायद थैली स्वीकार कर लेने पर उनकी तारीफ़ में पूंजीवादी पत्रकार इस खबर को अवश्य प्रचारित करते। उन्हें 'थैली के अस्वीकार्य' की बात विश्वसनीय न लगी हो!

● कि लखनऊ आकाशवाणी केन्द्र से होली-अवसर पर कुछ हास्य कवियों की कविताएँ नस्र की गईं। ता० २४-३-७८ की रात्रि में नज़ीर बनारसी ने 'होली' की मस्ती के आलम को पंक्तियों में बड़ी मस्ती से बाँध कर लोगों को मस्त कर दिया। 'चतुरंग' उनकी अन्त को कुछ पंक्तियाँ ही नोट कर पाये—सारांश है— जो वर्ष भर हवा में दुबके रहते हैं, वे भी खुलकर चलते हैं होली में। जो चोट से बचते रहते हैं, वे भी चोट करते हैं होली में। यहाँ तक कि हिरण भी शिकार करते हैं होली में। चतुरंग, होली पर लिखी गई उम्दा ग़ज़ल के लिये श्री 'नज़ीर' बनारसी को साधुवाद देते हैं।...

● कि इस फाल्गुन में जिन पर सबसे ज्यादा मस्ती चढ़ी वे हैं 'अक्षर प्रकाशन' के व्यापारिक मनोवृत्ति वाले श्री राजेन्द्र यादव। वे ६ मार्च को लगभग ३० वर्षीया पुरानी एक पेन्टिग के साथ इलाहाबाद के पुस्तक-विक्रेताओं से मिलने पधारे थे। शाम ८ बजे 'इलाहाबाद प्रेस' में स्थानीय अपने कुछ मित्र लेखकों से भेंट-वार्त्ता के लिये अपनी पेन्टिग के साथ आये।' प्रेस में संयोग से चतुरंग 'सनीचर' का प्रूफ़ देख रहे थे। इलाहाबादी चतुर लेखकों ने उनकी पेन्टिग का निरीक्षण करते हुए 'पेन्टिग-स्तर' पर हास्य-मिश्रित खिंचाई शुरू की। अमरकान्त ने यादव जी की दिल्ली वाली स्थायी पेन्टिग की चर्चा में उसकी तारीफ़ करते हुये कहा था— तुम्हे 'स्थायी पेन्टिग' की भावनाओं का ध्यान रखना चाहिये।...

रंग-रोगन उड़ गये ३० वर्षीया पुरानी पेन्टिग का अनकण्डीशनल चेहरा शर्म से मलीन होता जा रहा था। और जब लेखकों ने इसी बिन्दु पर बार-बार खिंचाई शुरू की तब यादव जी को वहाँ से सरकते ही बन पड़ा।...

● कि भोपाल से श्री अनिल कुमार एवं श्री मनोहर आशी के सम्पादन में 'रंग संधान' का पहला अंक आया है। यह 'समग्र कला प्रस्तुतियों की त्रैमासिकी हैं। 'रंग संधान' के प्रथमांक का मैटर समग्र कला प्रस्तुतियों की विशेष जानकारी देता है। डॉ० प्रभाकर माचवे का 'चित्रकला में इम्प्रेशनिज्म' पढ़ कर चित्रकला में भी उनकी गहरी पैठ का पता लगता है। 'रंग-संधान' कला के क्षेत्र में महत्व-पूर्ण सामग्री प्रस्तुत करेगा, प्रथमांक से यह विश्वास घर कर जाता है। 'पहल' का 'मार्क्सवादी सौन्दर्य शास्त्र' पर विशेषांक आया है। मार्क्सवादी लेखकों को इसका पाठ कर समाज, साहित्य- बुर्जुआ साहित्य, पूँजीवादी साहित्य पर मार्क्स-वादी चिंतकों द्वारा किये गए उन सभी विश्लेषणों को हृदयंगम कर लेना चाहिये, ताकि वे साहित्य में सामाजिक परिवर्तनों, उसकी विकास प्रक्रियाओं को सही ढंग से प्रस्तुत कर सकें और पूंजीवादी लेखकों की कृतियों, उनके टुकड़खोर मतों का ऑपरेशन कर सकें।

'प्रकर' सभी भारतीय भाषाओं के उल्लेखनीय प्रकाशनों ।का परिचय सही मूल्यांकन, विवेचन, समीक्षा प्रस्तुत करने वाला त्रैमासिक है। अपने इस उद्देश्य में 'प्रकर' का प्रत्येक अंक सफल रहता है। और समीक्षक पुस्तकों की विद्वतापूर्ण विवेचना करते हैं। 'ओर' का नया अंक आया है एक अर्से के बाद।

'छायानट' उ० प्र० संगीत नाटक अकादमी लखनऊ द्वारा प्रकाशित त्रैमासिक पत्रिका है! जुलाई-दिसम्बर १९७७ का संयुक्तांक श्री नरेश सक्सेना के सम्पादन में निकला है। 'रंग बोलते हैं' शीर्षक अपने सम्पादकीय में उन्होंने अपने अज्ञान का अच्छा खासा परिचय दिया है। दरअसल, बात यह कि नरेश जी 'इंजीनियर' हैं। साहित्य से उनका रिश्ता अचानक हो गया लगता है। क्या नरेश जी बता सकते हैं कि अँग्रेजी के post का निश्चित अर्थ क्या है? 'शक्ति' पर यदि हम बताने बैठें तो नरेश जी को एक घण्टा ध्यान देकर सुनना पड़ेगा। यहाँ, स्थानाभाव के कारण हम कुछ लिखने नहीं जा रहे।...फिर भी वह 'शक्ति' को अँग्रेजी के 'Literature' की भाँति ही व्यापक मानें। तांत्रिक पद्धति से उन्हें बताऊँ तो शायद वह ज्ञानी हो जांय। शाक्त-साधना पद्धति में दो भाग हैं—तामसिक—सात्विक। तामसिक पद्धति के तांत्रिक वाममार्गी होते हैं। वे शक्ति की पूजा मदिरा, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन से करते हैं। सात्विक पद्धति के तांत्रिक दक्षिणमार्गी होते हैं। वे शक्ति की पूजा अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी और आकाश इन्हीं पंचतत्वों से करते हैं। मदिरा, अग्नि है। मांस, वायु है। मीन, जल है। मुद्रा, पृथ्वी है। मैथुन, आकाश है। 'चतुरंग' सात्विक पद्धति में कुछ रुचि रखते हैं। शरीर में जैसे-जैसे 'सेक्स' की कमी होती जायगी, चतुरंग, सात्विक तंत्र-पद्धति में सफलता प्राप्त करते रहेंगे। लेकिन यह कम्बख्त 'सेक्स' कम हो तब न! हर साल 'फाल्गुन' आ जाता है। न 'फाल्गुन' का आना बन्द होगा न 'चतुरंग' सात्विक तांत्रिक हो पायेंगे...तो जनाब! अँग्रेजी में भी बहुत से शब्दों के निश्चित अर्थ नहीं हैं!...

● कि 'चतुरंग-चर्चा' के लिये भेजी गई श्री बलदेव बंशी की यह 'रपट' भी काफी दिलचस्प है :—

'लेखकों का कोई भी सम्मेलन हो, यदि उसके पीछे स्पष्ट वैचारिक आधार एवं कारण हों और वे कारण स्पष्ट भी हों तो लोकतांत्रिक पद्धति को गति ही प्राप्त होती है। वैचारिक बहसों को आगे बढ़ाना इन सम्मेलनों की पहली उपयोगिता हो सकती है। यदि सम्मेलनों, गोष्ठियों आदि को महज कौतुक भाव से लिया जाए या उन्हें कौतुक बना दिया जाए तो इससे बड़ी हानि भी कोई नहीं हो सकती। साहित्यकारों के वैचारिक सरोकारों और साहित्यिक बहसों

को कौतुकतापूर्ण रवैये से स्खलित करना सबसे खतरनाक आयाम है। यह एक गैर-साहित्यिक, गैर-जिम्मेदाराना, गैर-लोकतांत्रिक कार्य है। किन्तु इधर इस रवैये को प्रोत्साहन मिला है जो अत्यन्त खेद का विषय है।

'हिन्दी लेखक सम्मेलन तृतीय' विशेष दिल्ली अधिवेशन'—१६, १७, १८ फ़रवरी १९७८ में उक्त रवैया खुल कर सामने आया। यों यह कार्य इस बार अप्रत्याशित ढंग से मूर्त्त नहीं हुआ। इसका पूर्वाभ्यास कई पहले सम्मेलनों में समय-समय पर होते रहे हैं। उन सम्मेलनों में हंगामा-व्यसनी तथा हंगामा-व्यावसायी प्रतिभाएँ जो एक बार सामने आयी हैं, वे हर बार मंच पर ही नहीं, मंच पर रखी मेजों पर चढ़ कर अपना चेहरा दिखाना नहीं भूलतीं, जिससे उन्हें बाखूबी जाना-पहचाना जाए, चर्चा की जाए, शाबाशी दी जाए या भला-बुरा जो भी कहा जाए उन्हें मज़ा आता है। वैचारिक बहसों से उन्हें क्या लेना, बस इसी उखाड़ पछाड़ में उन्हें मज़ा आता है!

किन्हीं भी हस्तियों-व्यक्तियों की कुंठाओं से प्रेरणा पा कर हंगामी-व्यक्तित्व खुल-खेलते हैं, क्योंकि कुंठा साहित्यकारों की पहली विरासत है और उखाड़ पछाड़ कुंठित व्यक्तित्वों का पहला धर्म इसलिए उखाड़वाद के इन व्यवसायियों को कोई न कोई पक्ष जरूर मिल जाता है।

उक्त सम्मेलन में सम्मिलित न होने वालों पर ही (हमेशा की भाँति) इस हंगामे का सेहरा बंधा है, वे चाहे दिल्ली में बैठे हों या बम्बई में किन्तु यह निश्चित है कि इस प्रकार के हंगामों के पीछे व्यक्तिगत स्वार्थ और वैमनस्य ही कार्य करता नज़र आता है। उपस्थितों में कर्णसिंह चौहान, सुधीश पचौरी, कांतिमोहन आदि ने बराबर वैचारिक पक्ष को लेकर खुली चर्चा की और उसके लिए समय की माँग भी की, जो सर्वथा उचित थी, किन्तु हंगामा आकांक्षियों की मर्जी का उन्हें पहले से कुछ पता नहीं था। बाद में तो उन्होंने हंगामियों को खूब डाँटा भी और वैचारिक बहस आरंभ करने का प्रयास जारी रखा, परन्तु तब तक बहुत देर हो चुकी थी। संयोजक और अध्यक्ष-मंडल के लोग मंच को राम भरोसे छोड़ कर जा चुके थे।

यह दूसरे दिन का कमाल था, जब वक्तताओं के आगे से माइक छीन कर फेंके जा चुके थे, वक्ताओं को मंच से द्वार तक और द्वार से मंच तक पकड़ कर बलपूर्वक घसीटा जा रहा था।

अंग्रेजी अखबारों ने कीचड़ उछाल नीति, घौंसू-खूसट स्वभाव का परिचय इस बार भी दिया। हिन्दी के अखबारों ने भी वैयक्तिक रुख अपनाया। इससे किन्हीं व्यक्तियों का तो कुछ बना-संवरा हो या नहीं (व्यक्तिगत खलिश जरूर मिटी होगी) किन्तु हिन्दी के समूचे परिदृश्य की प्रतिमा को जरूर खरोंच आयी। अब देखना यह है कि क्या हिन्दी के वरिष्ठ-जिम्मेदार (यदि उनमें अभी भी जिम्मेदारी की भावना है) साहित्यकार आगामी सम्मेलनों में इस कार्य-प्रणाली को विराम लगायेंगे या कि इसे ज़ारी रख कर और विकसित करना चाहेंगे!'

कालीन उद्योग में समय का महत्व

—भोलानाथ बरनवाल
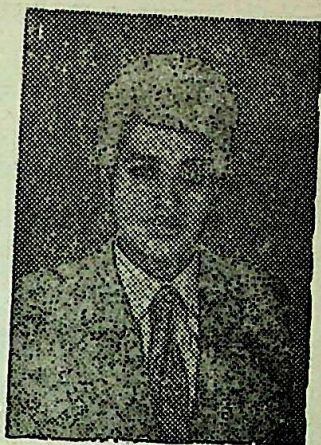
यद्यपि समय का महत्व तो सनातन काल से सर्वमान्य है; किन्तु कालीन उद्योग में इसका विशेष महत्व है। ग्राहक के आर्डर बुक करने के समय से लेकर माल के अन्तिम भुगतान प्राप्त होने का समय एक लम्बा काल है जो कदाचित् किसी अन्य हस्तकला-उद्योग में नहीं है।

कुशल ग्राहक कोई भी आर्डर बुक करने के पूर्व पर्याप्त समय लेते हैं। वह अपनी आवश्यकताओं का विश्लेषण करके, बाजार की स्थिति का अध्ययन करके अपनी इच्छानुकूल माल की आपूर्ति करने वाले व्यापारियों का चयन करते हैं। तत्पश्चात् वे कालीन की क्वालिटी, डिजाईन, रंग, माप इत्यादि का निर्धारण करते हैं। उसके स्तर के अनुरूप उसके निर्माण के लिये समय देते हैं। सामान्य स्थितियों में तथाकथित आर्डर समय से नहीं जा पाता; जिससे दोनों पक्षों को भारी क्षति उठानी पड़ती है। भारतीय कालीन निर्माताओं की प्रतिष्ठा भी इससे गिरती है। कुछ व्यापारी तो माँगे गये समय का ड्योढ़ा ही मान कर चलते हैं—क्योंकि उन्हें कभी भी समय से माल नहीं मिला।

कालीन निर्माण की प्रक्रिया सामान्यतया निम्नवत है :—

१—आर्डर को आर्डर बुक में उतारना

२—तत्पश्चात् उसके नक्शे के लिये अपने स्टाक से मिलान करना

३—नक्शों के लिये आर्डर देना

४—नक्शों की गुच्छी लगाना

५—गुच्छी के अनुसार रंगी काती की व्यवस्था करना

६—आर्डर के अनुरूप सूत तार आंगा की व्यवस्था करना

७—आर्डर के अनुरूप बुनकर की व्यवस्था करना
८—बुनकर को आर्डर इशू करना
९—बुनकर को नक्शा वह कच्चा माल इशू करना
१०—बुनकर द्वारा कालीन बुनाई करना
११—बुनकर द्वारा कालीन तैयार होने पर उसका वाजार (निरीक्षण) करना
१२—उसमें पाये गये दोषों को दूर करना
१३—उसकी धुलाई करना उसकी वेराई, किलिफ या गुल्तराश करना
१५—उसकी पेंचाई करना
१६—उसके पुट्ठे की कैंची की व चारे की सफाई करना
१७—पैकिंग के पूर्व निरीक्षण करके दोषों को दूर करना
१८—पैकिंग व मार्किंग करके उसे पोर्ट पर भेजना।

इसके बाद निर्यात की प्रक्रिया प्रारंभ होती है—

१—शिपिंग एजेन्ट द्वारा माल की कस्टम जांच कराना
२—जहाज कम्पनियों से माल बुक कराना
३—डाकुमेन्ट्स की बैंक से हुण्डी करना
४—बैंक द्वारा भुगतान के लिये ग्राहक के बैंक को डाकुमेन्ट भेजना।
५—ग्राहक द्वारा भुगतान करना।

उपर्युक्त कार्यों के सम्पन्न होने में निम्नलिखित समय सामान्य परिस्थितियों में लग जाते हैं :—

१—हल्की क्वालिटी	—	५ मास
२—मँझली क्वालिटी	—	७ मास
३—ऊँची क्वालिटी	—	९ मास

यदि कहीं पर भी किसी कारणवश कार्य रुक गया तो होने वाला विलम्ब बहुत दयनीय होता है। वैसे भी उपरोक्त समय ही इतना लम्बा है कि कालीन व्यवसायी की कमर टूट जाती है। बैंक भी इतनी लम्बी अवधि के लिये वित्तीय सहायता में आनाकानी करते हैं। अतः हम सब को चाहिये कि अपना सम्बन्धित कार्य समय से लगन पूर्वक पूरा करें।

भारतीय कालीन के बाजार में कैसे सुधार हो।

सुरेन्द्र कुमार बरनवाल

जैसा कि विदित है, पिछले दिनों से विदेशों से भारतीय कालीन की मांग में निरन्तर गिरावट हो रही है तथा देश के कालीन उद्योग के भविष्य में एक प्रश्न चिन्ह-सा लगता जा रहा है अतः सभी सजग उत्पादकों व निर्यातकर्ताओं का ध्यान इस ओर जाना स्वाभाविक है। अभी-अभी कनाडा, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, पश्चिमी जर्मनी आदि कई देशों की व्यापारिक यात्रा के बाद मुझे जो जानकारी व अनुभव प्राप्त हुये हैं उसके अनुसार भारतीय कालीन उद्योग की डिजाइन व किस्म में सुधार व कीमतें स्थायी न होने के कारण ही भारतीय कालीन उद्योग संकट में पड़ा है और इसे सरकार एवं निर्यातक अपने पारस्परिक सहयोग से ही सुधार सकते हैं। अतः भारतीय कालीन निर्माताओं व निर्यातकर्ताओं का कालीन का निर्यात बढ़ाने के लिये निम्नलिखित बातों की ओर तुरन्त ध्यान देना आवश्यक हो गया है।

सर्व प्रथम एक ही डिजाइन का कालीन सभी लोग न बनायें और जो डिजाइन कुछ लोग बनावें वह उतनी ही मात्रा में बनावें कि उसकी मांग बराबर बनी रहे। उदाहरार्थ पिछले दिनों में 'लीची' व 'हैरिज डिजाइन' के कालीन इतनी अधिक मात्रा में बने कि शायद ही कोई ऐसा निर्यातक होगा जिसने इस डिजाइन को बनवाकर बाहर न भेजा हो। उसका परिणाम अन्ततः यह हुआ कि इस डिजाइन की अधिकता के कारण विदेशों में इसकी मांग समाप्त-प्रायः हो गयी है। इसके कारण निर्यातकों को भारी हानि उठानी पड़ी।

क्वालिटी के सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि जो भी कालीन बने वह डि'ाइन, रंगामेजी व क्वालिटी में पूर्ण हो। यद्यपि ऊँची क्वालिटी की अधिक मांग है; परन्तु ऐसे किन्हीं कालीनों का विदेशों में जब विकना कठिन जान पड़ता है। जो भली प्रकार बुना नहीं गया है, जिसकी रंगामेजी ठीक नहीं है और फिनिशिंग ठीक नहीं है। अतः इस ओर बहुत अधिक ध्यान देने की सभी को आवश्यकता है। इसके लिये बुनकरों में सुधार तुरन्त अपेक्षित है। जिससे कालीन भली प्रकार बुनें। कालीन टेढ़ा मेढ़ा न हो। डिजाइन टूटी नहीं। नाट आदि नक्शे के मुताविक हों।

जहाँ एक ओर उत्पादकों एवं निर्यातकों की ओर से भारतीय कालीन के विदेशी माँग को बनाये रखने के लिये उपरोक्त प्रयत्न आवश्यक है वहीं सरकार की ओर से अविलम्ब कुछ ऐसी कार्यवाही होनी चाहिये जिससे ऊनी धागों के मूल्यों में तत्काल गिरावट हो। ध्यान रहे कि पिछले छः महीनों से ऊनी धागों के मूल्यों में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है जिससे कालीन की उत्पादन लागत में लगातार वृद्धि हुई है। अन्य देशों की तुलना में भारतीय कालीन महंगा होता जा रहा है। इससे भी भारतीय कालीन की विदेशी मांग बुरी तरह प्रभावित हो रही है। यदि ऊनी धागों की बढ़ती हुई कीमतें न रोकी गईं तो निकट भविष्य में भारतीय कालीन उद्योग अत्यधिक संकट में पड़ जायेगा।'

समकालीन साहित्य में जिन लघु पत्रिकाओं की महत्वपूर्ण भूमिकाएँ हैं वे :

पहल : सम्पादक : ज्ञान रंजन, कमलाप्रसाद
७६३, अग्रवाल कालोनी, जबलपुर

उत्तरार्ध : सम्पादक : सव्यसाची,
१६४, डेम्पियर नगर, मथुरा (म० प्र०)

ओर : सम्पादक : विजेन्द्र
आर-३०, सिविल लाइन्स, भरतपुर

कंक : सम्पादक : निर्मल शर्मा
दयानन्दमार्ग, धान मण्डी, रतलाम

पूर्वग्रह : सम्पादक : अशोक वाजपेयी
ललित कला भवन, टैगोर मार्ग, भोपाल

युग परिबोध : सम्पादक : आनन्द प्रकाश
एफ/११/१५, मॉडल टाउन, दिल्ली-९

संचेतना : सम्पादक : महीप सिंह
एच-१०८, शिवाजी पार्क, नयी दिल्ली

भंगिमा : सम्पादक : लालबहादुर वर्मा
रामदत्तपुर, गोरखपुर

धरातल : सम्पादक : अयोध्या शांडिल्य,
रामराज प्रकाशन, मघड़ा, नालन्दा

नटरंग : सम्पादक : नेमिचन्द जैन, काई-४७
जंगपुरा एक्सटेंशन, नयी दिल्ली

रंग संधान : सम्पादन अनिलकुमार, मनोहर आशी
१०५/३४, शिवाजी नगर, भोपाल

निष्कर्ष : सम्पादक : गिरीशचन्द्र श्रीवास्तव
५९, खैराबाद, सुल्तानपुर, (उ० प्र०)

मधुमती : सम्पादक : नन्द चतुर्वेदी
राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर

जनपक्ष : सम्पादक : शैलेश मटियानी
२६१ अ, मोतीलाल नेहरू नगर, इलाहाबाद-२

मणिमय : सम्पादक : राम व्यास पाण्डेय,
४१२ बी, रवीन्द्र सरणी, कलकत्ता

सं. १६-१० : कविता विशेषांक : मूल्य ... : मई १९७८ ई.

ललित कुमार शर्मा 'ललित' द्वारा इला० बा० प्रे०, रानी मण्डी, इलाहाबाद-में मुद्रित एवं जी० डी० रेग, औदाई, वाराणसी से प्रकाशित।